

आत्मदर्शन

जैन एवं जैनेतर साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. लता बोथरा

श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ, कोलकाता
चातुर्मास प्रबन्ध समिति
कोलकाता

प्रकाशक :

श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ, कोलकाता
चातुर्मास प्रबन्धक समिति
शीतलनाथ भवन ६०/१०, गौरीबाड़ी लेन
कोलकाता - ७०० ००४

© डॉ. लता बोथरा

प्रथम संस्करण :

अक्टूबर २००६

टाईप सेटिंग :

जैन भवन कम्प्यूटर सेन्टर
पी-२५, कलाकार स्ट्रीट
कोलकाता - ७०० ००७
दूरभाष : २२६८-२६५५

मुद्रक :

श्री विभास दत्त
अरुणिमा प्रिंटिंग वर्क्स
८१, शिमला स्ट्रीट
कोलकाता - ७०० ००६

मूल्य : पचास रुपये

प्रेरक

प. पू. खरतरगच्छाधिपति श्रीमद् जिनमहोदयसागर सूरीश्वरजी म. सा.
की आज्ञानुवर्तिनी प. पू. स्व. प्रवर्तिनी जैन-कोकिला
श्री विचक्षणश्रीजी म. सा. की विदुषी सुशिष्या
प. पू. विचक्षणज्योति, प्रज्ञाभारती, महामांगलिक प्रदात्री
प्रवर्तिनी श्री चन्द्रप्रभाश्रीजी महाराज सा.

लेखिका की कलम से

आत्म दर्शन के क्षेत्र में जैन दर्शन की अपनी विशिष्ट विचारधारा है। प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता एवं परमात्मता जैन दर्शन मानता है। बन्ध और मोक्ष की अवधारणा भी जैन दर्शन की अपनी मौलिक है। कर्मों का बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से क्यों है और इन कर्मों से कैसे छुटकारा पाकर आत्मा परमात्म अवस्था को किस प्रकार प्राप्त करती है इसकी जितनी विशद् विवेचना जैन दर्शन में मिलती है वैसी अन्य किसी दर्शन में नहीं की गयी है। अभिधान राजेन्द्र कोश में आत्मा की व्युत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि 'अतति इति आत्मा' अर्थात् जो गमन करता है वह आत्मा है। अर्थात् जो ज्ञानादि गुणों में सतत् रमण करता है वह आत्मा है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है। कर्मों के कारण जीव विभिन्न शरीर धारण करता है और चार गतियों और ८४ लाख योनियों में अनन्तकाल से भ्रमण करता हुआ चला आ रहा है। वर्तमान में जो स्थिति हमें प्राप्त है उसका कारण जन्म जन्मान्तर का कर्म बन्ध है। इन कर्म बन्धनों को क्षय करने का कार्य आत्मा अपने पुरुषार्थ से करता है। जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का विशिष्ट गुण बताया गया है। मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ज्ञान सभी को हो सकता है लेकिन केवलज्ञान उन विशिष्ट आत्माओं को ही होता है जो अपने कर्मों का पूर्ण रूप से क्षरण कर लेते हैं। केवल ज्ञानियों ने जगत के सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उनके रहस्यों को उद्घाटित किया जैसे कि उन्होंने बताया कि वनस्पति भी हमारी तरह सुख-दुःख का

संवेदन करती है। इसी को प्रमाणित कर जगदीश चन्द्र बोस ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। पाश्चात्य जगत को आश्चर्य चकित करने वाली इस खोज से जैन जगत का अशिक्षित व्यक्ति भी परिचित है। वनस्पति में जीव का अस्तित्व है और हमारे स्पर्श से उसे दुःख का बोध होता है यह बात आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने कहीं थी तथा जैन कुल में उत्पन्न बालक को यह ज्ञान जन्म घुट्टी में सहज ही प्राप्त हो जाता है। जैन दर्शन सिर्फ वनस्पतिकाय में ही नहीं वरन् मिट्टी, जल, वायु, अग्नि सभी में जीव मानता है। यद्यपि अन्य दर्शनों में भी इसका वर्णन मिलता है लेकिन चेतना के आधार पर एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय और त्रस-स्थावर जीवों के वर्गीकरण का सूक्ष्म विवेचन जैन शास्त्रों में ही उपलब्ध है। अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि बिना किसी बाह्य सामग्री के सिर्फ आत्म शुद्धि एवं ज्ञान की शक्ति द्वारा तीर्थंकरों और श्रुत केवलियों ने लोक कल्याण के लिये जो तत्त्व चिन्तन विश्व को दिया वह आज के वैज्ञानिकों को भी स्वीकार करना पड़ रहा है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जैन और जैनेतर दर्शन के परिप्रेक्ष्य में आत्मतत्त्व चिन्तन पर एक आलोकपात करने का प्रयास किया गया है। मैं चाहती हूँ कि हमारे प्रबुद्ध पाठक वर्ग इस शोध निबन्ध पर अपने विचारों से हमें अवगत करायें।

मैं हृदय से अनुगृहित हूँ, श्रद्धेय गुरुवर्याश्री चन्द्रप्रभाश्रीजी म. सा. एवं साध्वीश्री चन्दनवालाश्रीजी की, जिनकी प्रेरणा से चातुर्मास प्रबन्ध समिति के सदस्यों ने गुरुवर्याश्रीजी के प्रवर्तिनी पदारोहण समारोह पर्व के उपलक्ष में इस पुस्तक का प्रकाशन करवाया है।

लता बोथरा

भारतवर्ष अपने आध्यात्मिक दर्शन के कारण ही संसार में श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यही एक ऐसा देश है जहाँ अति प्राचीन काल से ही मनुष्य को स्वतन्त्र विचार रखने की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त था। जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म का कठोर नियन्त्रण होने पर भी विचारों की स्वतन्त्रता के कारण ही भारत में इतने दर्शन और मत मतान्तर पनप सके। एक बार डा. भाभा से एक पत्रकार ने प्रश्न किया कि आपके देश की सबसे बड़ी उपलब्धि क्या है। डा. भाभा ने उत्तर देते हुए कहा था कि यहां का किसान वर्ष में छः महीने खेती करता है और छः महीने चिंतन करता है। यही चिंतन ही विश्व को भारत की सबसे बड़ी देन है।

‘सा प्रथमा विश्ववारा’ यजुर्वेद में संस्कृति के प्रथम भारतवर्ष में आविष्कृत होने के पश्चात् विश्वव्यापी बनने की बात कही गयी है। ऐतिहासिक खोज भी इसे एक सर्वमान्य तथ्य के रूप में स्वीकार करती है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य मनीषी तथा भारतीय विद्याओं के ज्ञाता सर विलियम जोन्स के शब्दों में “भारत वह महान देश है जो दूर-दूर तक एशियाई देशों से घिरा है जिसे विज्ञान की धरती होने का गौरव प्राप्त है, जो मानवीय प्रतिभा की उत्पत्ति का स्थान है, जो धर्म, रीति रिवाजों, विविध भाषाओं और मनुष्यों के विविध वर्गों का अटूट भण्डार है।” भारतीय दर्शन का एक मात्र लक्ष्य श्रेष्ठतम की प्राप्ति

है। यही कारण है कि भारत ने मात्र अपनी सम्पन्नता के कारण नहीं वरन् अपनी आध्यात्मिक चेतना के कारण विश्व को प्रभावित किया है। जर्मन विद्वान जोहान हर्डर ने कहा भी है कि ‘मनुष्य जाति के उद्गम की खोज भारत में की जानी चाहिये।’ प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर ने अपनी किताब ‘Sacred books of the East’ में लिखा है— ‘भारत मेरे सपनों का देश है। यहाँ के सांस्कृतिक अन्वेषण ने विश्व मानव को उसके देवत्व एवं दिव्यत्व की राह दिखायी।’

भारतीय संस्कृति का ध्येय है सर्वांगीण विकास। यह संस्कृति ज्ञानमय है, संग्राहक है, कर्ममय है क्योंकि यह हमारे ऋषि मुनियों के चिन्तन का परिणाम है। भारत को विश्व की संस्कृतियों का जनक माना गया है। पुराणों में भी इसी सन्दर्भ में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।

जरा-मृत्यु-भयं नास्ति धर्मा-धर्मा युगादिकम्।

ना धर्म माध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः।।

ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभक्त।

ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे शाल्य ग्रामे हरिगतः।।

भरताद् भारतवर्ष भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।।

(अग्निपुराण १०।१० - ११)

उस हिमवत् प्रदेश (भारतवर्ष को पहले हिमवत् प्रदेश कहते थे) में जरा और मृत्यु का भय नहीं था। धर्म और अधर्म भी नहीं थे उनमें मध्यम समभाव था। वहाँ नाभि राजा से मरुदेवी ने ऋषभ को जन्म दिया। ऋषभ से भरत हुए, ऋषभ ने भरत को राज्य प्रदान कर सन्यास ले लिया। भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। भरत का पुत्र सुमति (सुयश) था। इसी तरह के उल्लेख मार्कण्डेय पुराण (५०।३९।४२)

वायुपुराण (३०।५०।५३) लिंग पुराण, शिवपुराण, स्कन्दपुराण, भागवतपुराण आदि में पाये जाते हैं। जैन व वैदिक दर्शन दोनों में संस्कृति का आदि जनक ऋषभदेव को माना गया है। तत्पश्चात् धीरे-धीरे कालक्रमानुसार इसमें से अनेक मतों का जन्म हुआ। इन सब मतों के आधार पर आज भारतीय दर्शन को दो भागों में वर्गीकरण किया जाता है। आस्तिक और नास्तिक। सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त ये सब आस्तिक मत माने गये हैं तथा जैन, बौद्ध और चार्वाक नास्तिक मत। परन्तु यह वर्गीकरण उचित नहीं है क्योंकि इसके अनुसार जो वेद वचनों पर विश्वास नहीं करता वो नास्तिक माना गया है। जो ईश्वर की सत्ता को नहीं स्वीकारता वह नास्तिक है। इस प्रकार सांख्य, योग और वैशेषिक दर्शन भी नास्तिक दर्शन हैं क्योंकि ये भी ईश्वर की सत्ता को नहीं स्वीकारते अतः यह वर्गीकरण ठीक नहीं हुआ है।

यह कहा जाता है कि जैन और बौद्ध धर्म ईश्वरीय सत्ता को नहीं मानते। शून्य से अचानक विश्व का सर्जन नहीं होता है। आचार्य जिनसेन ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि ईश्वर स्वयं सम्पूर्ण है तो विश्व रचना की क्यों जरूरत पड़ी ? यदि ईश्वर दयावान है तो सुख दुःख क्यों बनाए है? जीव-अजीवमय यह विश्व अनादि से चलता आ रहा है तथा इसका मूल काल, स्वभाव, नियति कर्म तथा पुरुषार्थ में ही समाया हुआ है प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का विधाता स्वयं है, प्रत्येक चेतन आत्मा के लिये मोक्ष का ध्येय बनाता है। और उस शाश्वत सुख को प्राप्त करने के साधन रूप आत्म विकास की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में पहुँचने तक के समय के लिये सर्वोच्च त्याग आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचस्तिकायसार में तथा उत्तराध्ययन सूत्र के २०वें अध्ययन में उल्लिखित है कि **‘आत्मा ही अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।’** अर्थात् जो जैसा करता है वैसा ही भरता है। अपने सुख-दुःख का उत्तरदायी आत्मा स्वयं है इसको स्पष्ट करने के लिये जैन शास्त्र में एक प्रसंग आता है। मगध के राजा श्रेणिक भ्रमण के लिये मण्डी कुक्षी नामक उद्यान में जाते हैं वहाँ एक वृक्ष के नीचे एक सुकुमार तरुण युवक को ध्यान में मग्न देख कर राजा को आश्चर्य होता है वह उसको नमन करके उनसे पूछते हैं कि ‘आप तरुण हैं फिर आप प्रव्रजित क्यों हो गये यह तो संसार के सुख भोगने का समय है।’ इस पर युवा मुनि ने कहा—

अणाहो मि महाराय, नाहो मज्झ न विज्जइ।

अणुकंपगं सुहिं वावि, कंचि नाभिसमेमहं ।।९

‘मैं अनाथ हूँ मेरा कोई नाथ नहीं, स्वामी नहीं है इसीलिये मैंने यह मुनि जीवन स्वीकार किया है।’ राजा को कौतूहल हुआ कि इतने सुन्दर सौंदर्यशाली पुरुष का कोई भी नाथ नहीं यह तो अचरज की बात है। तब उन्होंने मुनि को कहा—

होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया।

मित्तनाइपरिवुडो, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।।११

‘आपका नाथ बनना मैं स्वीकार करता हूँ मेरे परिवारिक जन मेरे मित्र यह सब आपका परिवार होगा। आप अकेले नहीं रहेंगे, उनके संग रहे और सांसारिक सुख को भोगे।’ मुनि ने कहा—

अप्पणा वि अणाहो सि, सेणिया मगहाहिवा।

अप्पणा अणाहा संतो, कस्स नाहो भविस्ससि ।।१२

“राजन् तुम तो स्वयं अनाथ हो तथा अनाथ दूसरे का नाथ कैसे बनेगा।?” राजा ने कहा- ‘मुनिवर मैं अनाथ कैसे हूँ, मेरे पास तो अपार वैभव, राज्य, परिवार, सेना सब कुछ है। सब मेरे आदेश का पालन करते हैं, फिर आप मुझे अनाथ कैसे कह रहे हैं?’

इस पर मुनि बोले— “मैं कौशम्बी नगरी का हूँ मेरे पिता का नाम प्रभूतधन संचय है। एक बार मेरे नेत्रों में पीड़ा उत्पन्न हुई जो असह्य थी। बड़े-बड़े वैद्य तान्त्रिक सबने इलाज किया लेकिन मेरी वेदना को ठीक न कर सके। मेरे परिवारजन जितना भी कर सकते थे उन्होंने किया फिर भी मेरी पीड़ा को दूर नहीं कर सके। तब मैंने सोचा, मैं कितना बेसहारा हूँ कोई भी मुझे इस भीषण वेदना से नहीं बचा पा रहा है। वास्तव में मैं अनाथ हूँ तब मैंने विचार किया यदि इस वेदना से मुक्त हो जाऊँगा तो संयम ग्रहण कर लूँगा। ऐसा विचार करते-करते मुझे नींद आ गई और प्रातःकाल जब मैं उठा तो मैंने स्वयं को पीड़ा मुक्त पाया। परिवारजनों को समझा बुझा कर दीक्षा की स्वीकृति प्राप्त कर श्रमण जीवन स्वीकार किया।

तोऽहं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।

सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाणं थावराण य ।।३५

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा में कूडसामली।

अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा में नंदणं वणं ।।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाणय।

अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।।

उत्तराध्ययन सूत्र २०-३६, ३०

मैंने अपनी आत्मा को संयम में ढाल कर आत्मनियन्त्रण कर लिया, इसलिये मैं अपना नाथ हूँ। मैंने हिंसा का त्याग किया है अतः

त्रस, स्थावर किसी भी प्राणी को मुझसे भय नहीं इसलिये मैं सबका नाथ हूँ अर्थात् आत्मा ही अपना नाथ है आत्मा ही नदी है, आत्मा ही कूट शाल्मली कडुआ सेमल का पेड़ है (कष्टकर है) आत्मा ही कामधेनु है—सब अभीप्साएँ पूर्ण करने वाली, आत्मा ही नन्दन वन, स्वर्ग का उद्यान है-आनन्दप्रद है, आत्मा ही सुख-दुःख की कर्ता है, आत्मा ही विकर्ता है—कर्मों का क्षय नाश करने वाली है, दुष्प्रवृत्तियों में संलग्न आत्मा अपना शत्रु है तथा सत्यवृत्तियों में संलग्न आत्मा अपना मित्र है।

यह सुन श्रेणिक ने हाथ जोड़कर कहा, ‘हे मुनिवर अनाथता का सच्चा स्वरूप आपने मुझे अच्छी तरह समझाया है। आपका मनुष्य जन्म सफल है क्योंकि आपने इसका लाभ उठाया है। आप ही वास्तव में सनाथ और सबान्धव है, अनाथों के नाथ है।’

विश्व के सभी दर्शनों में आत्मा सम्बन्धी चिन्तन परिलक्षित होता है। यद्यपि सभी प्रचलित दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं लेकिन उसकी व्याख्या अलग-अलग रूपों में करते हैं। न्याय और वैशेषिक आत्मा को अविनश्वर और नित्य मानते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख व ज्ञान को आत्मा का विशेष गुण मानते हैं। मीमांसा दर्शन भी आत्मा को नित्य मानता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन आत्मा को सत्, चित्त एवं आनन्द स्वरूप मानता है तथा एक ही आत्मा को सत्य मानता है। सांख्य दर्शन पुरुषों को मानता है लेकिन ईश्वर को नहीं मानता है। चार्वाक दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। उसमें चैतन्य युक्त शरीर को ही आत्मा माना गया है। बौद्ध दर्शन आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और संकल्पों का प्रत्येक क्षण में परिवर्तन होने वाला

पदार्थ मानता है। जैन दर्शन में आत्मा को नित्य, अजर-अमर माना गया है। ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति से युक्त है।

जैन आगम ग्रन्थों में द्वादशांगी में बारह आगमों में दूसरा सूत्रकृतांग है जिसमें स्वसिद्धान्त द्वारा निरूपण करते हुए अनेक मतों का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

चार्वाक दर्शन—ये पंच महाभूतों पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश के अतिरिक्त आत्मा को अलग पदार्थ नहीं मानते हैं। इन पंच महाभूतों से ही आत्मा उत्पन्न होती है व विनाश से ही आत्मा का विनाश होता है।

ऐते पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया।

अह तेसिं विणासे णं, विणासो होइ देहिणो।।

सूत्रकृतांग १/८।।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में भी ऐसे चातुर्भौतिकवाद का वर्णन मिलता है जो आत्मा को चार महाभूतों-पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से निर्मित मानते हैं और इनके अनुसार शरीर के विनष्ट होते ही चेतना भी विनष्ट और लुप्त हो जाती है। लेकिन इन पंचभूतों के संयोग से चैतन्यादि गुण उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि पंचभूतों का गुण चैतन्य नहीं है। जैसे बालू में तेल उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार पंचभूतों में चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसी तरह मिट्टी के पुतले में पंचभूत विद्यमान रहने से भी उसमें चैतन्य (आस्था) नहीं प्रकट होती है। अतः चैतन्य आत्मा का गुण है जो पंचभूतों से भिन्न है।

एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।

(कठोप० २/५/१०)

कठोपनिषद् में कहा है — जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न घड़ों में अनेक दिखायी देता है, वैसे ही सारे भूतों में रहा हुआ एक ही (भूत) आत्मा उपाधि भेद में अनेक प्रकार का दिखायी देता है। यह एकात्मवादी मान्यता वेदान्त दर्शन सम्मत है। यह सारे विश्व में एक ही आत्मा मानते हैं जो युक्तिहीन है क्योंकि ऐसा मानने से एक के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा। एक के कर्मयुक्त होने पर सभी कर्म बन्धन से बन्ध और एक के कर्म मुक्त होने से सभी कर्म मुक्त हो जाएँगे। जड़ और चेतन में सभी में एक आत्मा मानने से आत्मा का चैतन्य गुण जड़ में भी आ जायेगा जो असम्भव है।

आत्मानम् रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रगहमेव च।।

(कठोपनिषद्)

कठोपनिषद् में नचिकेता को यमराज ने आत्मज्ञान का पाठ पढ़ाया। जिसमें उसने ब्रह्म का अनुभव कर अमरता प्राप्त की, यमराज ने नचिकेता को बताया था कि आत्मा शरीर रूपी रथ का स्वामी है, बुद्धि सारथि है और मन लगाम।

बौद्ध दर्शन में पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है। बौद्ध दर्शन में पाँच स्कन्ध माने गये हैं (१) रूप स्कन्ध (२) वेदना स्कन्ध (३) संज्ञा स्कन्ध (४) संस्कार स्कन्ध और (५) विज्ञान स्कन्ध। इन पाँचों को उपादान स्कन्ध भी कहा गया है। इन पाँचों से भिन्न या अभिन्न सुख-दुख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि आदि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। ये

पाँचों स्कन्ध क्षणयोगी हैं दूसरे ही क्षण समूल नष्ट हो जाते हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ मात्र, आत्मा या दान सभी क्रियाएँ क्षणिक है। पंच स्कन्धों से अतिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है तो जब आत्मा नहीं है तो बन्ध, मोक्ष, जन्म मरण, स्वर्ग नरक सब निरर्थक हो जाते हैं।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नंपुंसक।

यद् यच्छरीर गादते तेन तेन स पुज्यत।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

श्वेताश्वरोपनिषद् सूत्र में आत्मा के विषय में बताया है कि आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष और न ही नपुंसक। यह शरीर से सम्बन्धित है और यह शरीर में यत्र-तत्र सर्वत्र व्याप्त है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, सच्चिदानन्द है, नित्य और स्वप्रकाश चैतन्य है। यह न तो ज्ञाता है न ज्ञेय और न अहम् ही। द्वैत मतानुसार आत्मा केवल चैतन्य नहीं है बल्कि एक ज्ञाता है। **‘ज्ञाता अहमर्थ एवात्मा’**

मनुस्मृति में भी सब ज्ञानों से श्रेष्ठ आत्म ज्ञान बताया है—

सर्वेषामपि चैतेषा, मात्म ज्ञान परं स्मृतम्

तद्व्यभ्रमं सर्व विद्यानां, प्राप्तते ह्यमृत ततः।

मनुस्मृति अध्याय - १२

सब ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान आत्म ज्ञान है जिससे मनुष्य को अमृत मिलता है।

भगवद्गीता में लिखा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य

न्यानि संयाति नवानि देही।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

न चैनं क्लेदयन्त्यापी न शोषयाति मारुतः।।

(भगवद्गीता, द्वितीय अध्याय, श्लोक-२२,२३)

“जिस प्रकार हम जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं उसी प्रकार आत्मा नवीन शरीर धारण करता है। आत्मा को न कोई शस्त्र छेद सकता है, न अग्नि जला सकती है और न ही हवा शोष सकती है।”

सांख्य दर्शनानुसार आत्मा स्वयंसिद्ध, अखण्ड, नित्य और सर्वव्यापी है, वह ज्ञान नहीं ज्ञाता है।

योग दर्शन आत्मा को सभी विकारों से अलग, अजन्मा और अमर मानता है जो शरीर की मृत्यु के बाद भी कर्मफल भोगता है। प्रत्येक जीव में पृथक आत्मा है। सुषुप्तावस्था में तथा मोक्षावस्था में आत्मा चैतन्य रहित होती है। न्याय दर्शन में जब तक आत्मा शरीर में रहती है तब तक दुखों का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। आत्मा के शरीर से मुक्त होने पर ही दुःखों और सुखों का अन्त होता है।

वैशेषिक के अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दुःख, रागद्वेष, इच्छावृत्तियां, प्रयत्न आदि गुण के रूप में वर्तमान रहते हैं।

ये सभी मत सूत्रकृतांगसूत्र में वर्णित पंच महाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीव तच्छरीवाद, आकारकवाद, आत्मषष्टवाद, क्षणिकवाद,

नियतिवाद, अज्ञानवाद, कर्मोपचय निषेधक क्रियावाद आदि में समाहित है। बौद्ध ग्रन्थों संयुक्तनिकाय तथा दीघनिकाय में भी विभिन्न मतों जैसे तज्जीव तच्छरीवाद, जीवान्य शरीरवाद, अनन्तवाद, सान्तवाद, शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, अकृततावाद, दैववाद, अक्रियवाद, उच्छेदवाद, नित्यत्व-अनित्यत्ववाद, अमराविक्षेपवाद अकारणवाद आत्मोच्छेदवाद, दृष्टनिर्वाणवाद का वर्णन मिलता है।

पाश्चात्य दर्शन में भी आत्मा सम्बन्धी चिन्तन प्राप्त होता है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तु भी आत्मा के पुनः जन्म में विश्वास रखते थे। अर्थात् वे आत्मा का अस्तित्व मृत्यु के बाद भी स्वीकार करते थे। प्लेटो के द्वन्दात्मक सिद्धान्त के अनुसार संसार के समस्त पदार्थ द्वन्दात्मक हैं अतः जीवन के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जीवन अनिवार्य है। प्लेटो कहता है— “The soul always weaves her garment anew. The soul has a natural strength which will hold out and be born many times”. आत्मा सदा अपने लिये नये-नये वस्त्र बुनता है तथा आत्मा में एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी। Plato के अनुसार आत्मा का जन्म मरण का चक्कर चलता रहता है। जो आत्मा की अमरता को भी सिद्ध करता है।

“What they say in this that the soul of man is immortal. At one time it comes to an end and at another is born again, but is never finally exterminated.

Plato ने आत्मा की अमरता के साथ आवागमन का सिद्धान्त जोड़ दिया है क्योंकि आत्मा अमर है और अनेक जन्मों में बहुत कुछ देखती और सीखती है अतः जीव को सद्गुण तथा अन्य प्रत्ययों का ज्ञान अनुस्मृत होता है।

“Thus the soul, since it is immortal and has been born many times, and has seen all things both here and in the other world, has learned everything that is. So we need not be surprised if it can recall the knowledge of virtue and everything else” (Meno 81 C).

प्लेटो के अनुसार अज्ञानी देहधारी होकर बंधन में पड़े रहते हैं। केवल सद्गुण ज्ञानी ही मोक्ष की परम गति को प्राप्त करते हैं। यह Phaedo में उसने स्पष्ट किया है— This soul secures immunity from its desires by following reason and abiding always in her company ----- (page 85)

सोफिस्ट विचारको में प्रोटागोरस की प्रसिद्ध उक्ति Man is the measure of all things of what is that it is of what is not, that it is not अर्थात् मानव सभी बातों का मापदण्ड है, जो है वह वास्तविक है, और जो नहीं है वह वास्तविक नहीं है।

डेल्फी के मन्दिर में लिखा गया था — मनुष्य ! तुम अपने को जानो (आत्मानं विद्धि) Man ! know thyself ‘अपनी आत्मा को जानना ही सच्चा ज्ञान है’ इस Sophist विचारधारा से सुकरात प्रभावित थे उनके शिष्य प्लेटो के अनुसार भी आत्मा अमर है तथा जीवन के पूर्व और बाद दोनों ही रूप में रहती है।

प्लेटो ने गॉर्जियास नामक पुस्तक में लिखा है कि शारीरिक गुण शारीरिक स्वास्थ्य के ऊपर निर्भर करते हैं। सद्गुण भी आत्मिक स्वास्थ्य पर निर्भर करते हैं।

Plato के दर्शन में आत्मा के सन्दर्भ में दो उल्लेखनीय बातें हैं। आत्मा का जन्म जन्मान्तरों में आवागमन (transmigration)

और जन्म के पूर्व प्रत्यय ज्ञान का अनुसरण (remeniscience recollection)। Plato के अनुसार आत्मा ही एक प्रकार का अस्तित्व है जो स्वयं संचालित होता है और अन्य सभी वस्तुओं को संचालित करता है। – (Phaedrus, 245 c. d. e. Laws 894 c.)

जो वस्तु दूसरी वस्तु पर निर्भर रहे कि उसमें गति आये वह वस्तु, नश्वर मानी जायेगी पर वह अस्तित्व जो किसी अन्य वस्तु पर निर्भर न रहकर स्वयं अपने आप में संचालित होता रहे वही शाश्वत और नित्य कहा जायेगा। यह स्वतः संचालित आस्तित्व स्वयं भी संचालित होता और दूसरो को भी संचालित करता है। थेलस प्रथम युनानी दार्शनिक माने जाते है इनका समय ६२४ से ५५० ई० पू० था। इनके दर्शन में विस्तार पूर्वक जीव का उल्लेख नहीं मिलता पर वो चुम्बक में भी आत्मा के वास को स्वीकारते थे। उनके अनुसार सभी चर तथा अचर में जीव विद्यमान है। अनैक्सीमैंडर के अनुसार परम द्रव्य अपरिमित नित्य तथा अनिश्चित तथा अस्पष्ट तत्व है अन्त में यह सभी वस्तुएँ उसी मूल तत्व में मिल जाती है। जैसे मिट्टी से विभिन्न बर्तन घट आदि बनते है पर घट से और बर्तन नहीं बन सकते। उन्हें मिट्टी के रूप में परिणत करके ही फिर बर्तन बनाये जा सकते हैं। यह सिद्धान्त 'उत्पाद व्यय ध्रौवसत्' से मिलता है तथा यही हीगेल के दर्शन की पृष्ठ भूमि बना। पाइथागोरस (५८०-५०० ई० पू०) के अनुसार आत्मा अमर है जब तक आत्मा को मुक्ति नहीं मिलती मनुष्य जनम मरण के चक्र में पड़ा रहता है। वह पुनःजन्म में भी विश्वास रखते थे। पाइथागोरस ने तपस्या, चरित्र की निर्मलता, शाकाहार और अहिंसा के पालन पर बल दिया। पाइथागोरस पर श्रमण विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। Plato के

दर्शन का प्रभाव पाश्चात्य दर्शन पर व्यापक रूप से पड़ा था। Plotinus (२०४-७० ई० पू०) के दर्शन से ईसाई दर्शन भी प्रभावित हुआ। Plotinus के दर्शन में Plato पुनः जीवित हुए। वे अपने जीवन काल में ४ बार समाधि में गये और साधना द्वारा उन्हें अनेक अनुभूतियाँ हुई। उनका शिक्षा स्थान Alexandria था जहाँ भारतीय विचारक (श्रमण) थे तथा वे उनसे प्रभावित थे। मध्य युगीन पाश्चात्य दार्शनिक St. Augustus (354 - 430 A. D.) जन्म से पूर्व आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारते है पर आत्मा की सृष्टि के बाद उसको अमर मानते हैं।

स्पिनोजा का दर्शन एकान्तवादी है वे एक ही द्रव्य की परमसत्ता मानते है। स्पिनोजा के समकालीन लाइबनिट्स थे। उनके अनुसार जड़ पदार्थ है ही नहीं। डेविड ह्यूम ने भी पदार्थ की सत्ता को नहीं मानकर अतीन्द्रिय ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को माना है।

काण्ट के अनुसार हम प्रज्ञात्मक आत्मा को जान नहीं सकते और यदि इसे जानने का प्रयत्न करें तो इसमें transcendental भ्रम हो जाता है।

बर्कले ने बताया कि आत्मा स्वयं प्रयत्क्ष नहीं है। हमें आत्मा के सम्बन्ध में धारणा (notion) ही सम्भव हो सकती है। हम आत्मा को नोशन के आधार पर जानते हैं।

' So far I can see, the words will, soul, spirit do not stand far different ideas or in birth, for any idea of all ; but for some thing which is very different from ideas, and which, being an agent cannot be like un or represented, any idea

what soever. संचालित आस्तित्व आत्मा है। क्योंकि गति का अन्त कभी नहीं होता इसीलिये स्वतः संचालित आत्मा अमर कही जा सकती है। 'That which moves itself' is precisely identifiable with soul, it must follow that soul is not born and does not die" --- Phaedrus (245c-146a).

फ्राँसीसी विद्वान रेने देकार्त (१५९६-१६५०) ने आत्मा का मुख्य गुण चेतना माना है। चेतना के स्वरूप को जानने के लिये किसी अन्य प्रकार के पदार्थ ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। रेने देकार्त ने लिखा है "मैं चिन्तन करता हूँ इसमें मैं का अर्थ आत्मा है। आत्मा और प्रकृति एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं।"

लॉक के अनुसार "आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। मैं चिन्तन करता हूँ, मैं दुःख-सुख का अनुभव करता हूँ इससे अपनी सत्ता का अनुभव होता है और ज्ञान होता है अतः आत्मा ज्ञान का विषय है।" जार्ज बर्कले ने विश्व की सत्ता को तीन भागों में विभाजित किया है। (१) आत्मा और उनके बोध (२) परमात्मा (३) बाह्य पदार्थ। आत्मा का तत्व चिन्तन है। ह्यूम ने आत्मा को भी प्रकृति की तरह एक कल्पना मात्र माना है।

हीगेल के अनुसार स्वाधीनता ही आत्मा का सार है। आत्मा का तत्व अपने आप में पर्याप्त होता है तथा आत्मा को स्वयं से संघर्ष करना पड़ता है। नीत्शे मानते हैं कि आत्मा पर अनेक बोझ हैं केवल शक्तिशाली आत्मा ही बोझ उठाने की क्षमता रखती है। सर ऑलीवर लॉज के अनुसार 'The soul of man passes between death and rebirth in the world as he passes through dreams in the

night' अर्थात् 'मनुष्य जिस प्रकार स्वप्न लोक में भ्रमण करता है उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच भ्रमण करती है।'

पाश्चात्य दर्शन में अहम् self को आत्मा का पर्याय माना गया है। प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक पाल वेस्स के अनुसार "किसी का अहम् वह बोध है जिससे वह स्वयं को समझता है।' (Modes of Being Pg-47-52) डॉ० वैलेन्ड ने Elements of Intellectual Philosophy में लिखा है 'जो मूल तत्व मस्तिष्क की शक्तियों की उत्पत्ति में सहायक होता है वही आत्मा है।' १९वीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिक चिन्तक William James ने अपनी पुस्तक 'Principle of Psychology' लिखा है कि 'यदि मुझसे पूछा जाये कि आत्मा क्या है तो मैं तत्परता से जवाब दूँगा कि आत्मा जीवन का अस्तित्व है।'

जैन धर्म अनेकान्तवादी विचारधारा का प्रतिपादन करता है इसीलिये इन सभी एकात्मक विचारधाराओं के विपरीत आत्मा पर स्पष्ट और गहन चिन्तन हमें जैन दर्शन में प्राप्त होता है और उसका कारण सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित दर्शन है जिन्होंने साधना द्वारा आत्मा के रहस्यों को जाना और समझा। सूत्रकृतांग के प्रथम सूत्र में "बुद्धिज्ज तितुट्टेज्जा, बंध्यणंपरिजाणिय।" अर्थात् मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिये बंधन का स्वरूप जान उसे तोड़ना चाहिये। यह बोध क्या है, कौन सा है। यहाँ बोध का अर्थ है 'आत्म बोध' अर्थात् मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ। बन्धन रहित होते हुए भी कर्मों के बन्धन में कैसे और क्यों पड़ा हूँ, इन बन्धनों का कर्ता कौन है तथा इसे कैसे तोड़ा जा सकता है इन प्रश्नों का रहस्य समझकर उनको तोड़ने का पुरुषार्थ करना ही आत्मा का धर्म व कर्तव्य है।

संबुद्धह किं न बुद्धह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा
णो हूवणमंति रातिओ, णो सुलभंपुणरावि जीवियं ।।१

(सूत्रकृतांगसूत्र द्वितीय अध्ययन-८९)

इस सूत्र में — 'हे भव्यो ! तुम बोध प्राप्त करो। बोध क्यों नहीं प्राप्त करते? बीती बातें फिर लौट कर नहीं आती और संयमी जीवन फिर सुलभ नहीं है इसलिये सम्बोध प्राप्त करने में देर नहीं करना चाहिये। इसी जन्म में और अभी बोध प्राप्त कर लो क्यों कि बीता हुआ क्षण फिर लौट कर नहीं आता है।'

आचारांग सूत्र (श्रु १. अ. १ सू. १) के प्रथम सूत्र में भी आत्मा से सम्बन्धित बोध का समर्थन मिलता है।

अत्थि में आया उववाइए? णत्थि में आया उववाइए?
के अहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?

'मैं यानि मेरा आत्मा भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पन्न होने वाला है अथवा मेरा आत्मा भिन्न-भिन्न गतिओं में उत्पन्न होने वाला नहीं है। तथा मैं कौन था और इस शरीर से छूट कर इस संसार में दूसरे जन्म में क्या होऊँगा? आगे लिखा है—

से जं पुण जाणेज्जा सह सम्मइयाए परवागरणेणं अएणेसिं वा
अंतिए सोच्चा तंजहा
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहंमसि जाव
अएणयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहंमसि
एवमेगेसिं जं णायं भवइ—अत्थि में आया उववाइए,
जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइसोहं ।।४
से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई ।।५

वह पुरुष अपनी बुद्धि या जातिस्मरण ज्ञान द्वारा या तीर्थकरों के उपदेश से अथवा दूसरों के पास से सुनकर पूर्वोक्त बातों को जान लेता है जैसे कि 'मैं' यानि मेरी आत्मा पूर्व दिशा से आयी है अथवा यावत् अन्यतर अर्थात् किसी एक दिशा से अथवा अनुदिशा से आयी है। इस प्रकार कितने ही जीवों को ज्ञान हो जाता है कि मेरी आत्मा नाना गतियों में भ्रमण करने वाली है। जो आत्मा इन दिशाओं से अथवा अनुदिशाओं में आकर संसार में परिभ्रमण करता है अपने पूर्व जन्मादि का स्मरण करता है वही आत्मा 'मैं' हूँ। जो पुरुष आत्मा के उपर्युक्त स्वरूप को जानता है वही आत्मवादी है, वही लोकवादी अर्थात् लोक को यथार्थरूप से जाननेवाला है, वही कर्मवादी अर्थात् कर्मों का यथार्थ स्वरूप जानने वाला है और क्रियावादी यानि कर्मबन्ध के कारणभूत क्रिया जानने वाला है।

आचारांग सूत्र में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है।' यहाँ 'मैं' शब्द स्पष्टरूप से आत्मा के लिये प्रयुक्त है। 'मैं' का अर्थ देह नहीं वरन् देह के अन्दर विराजमान चैतन्यमय आत्मा है जो नाना गतियों में भ्रमण करता है। जिस प्रकार तलवार और म्यान अलग-अलग है, जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करती है।

गुरुवर्या साध्वी विचक्षण श्री जी महाराज की छाती में कैंसर की गांठ हुई जिसकी पीड़ा को उन्होंने समता और शांति से सहन किया था। जब कैंसर की गांठ फटी तो मानो खून और मवाद का स्रोत फूट पड़ा

हो। सब दंग थे लेकिन गुरुवर्या के चेहरे में एक अद्भुत समतामय आलोक था। उन्होंने 'मैं' का अर्थ समझकर शरीर का ममत्व त्याग दिया था। वह कहती थी जो अन्दर था वहीं बाहर आया है। सड़ना, गलना और बनना-बिगड़ना, यही तो शरीर का स्वभाव है। मैं अपना काम कर रही हूँ और शरीर अपना काम कर रहा है। मैं जान चुकी हूँ कि मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं।

वादिदेव सूरि कृत 'प्रमाणनयतत्वालोक' नामक न्यायग्रन्थ के सातवें परिच्छेद के ५६वें सूत्र में आत्मा की सटीक परिभाषा मिलती है।

चैतन्य स्वरूपः परिणामी, कर्ता, साक्षात्भोक्ता,

स्वदेह परिणामः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवाश्चाऽयम्॥

इस सूत्र में आत्मा को चैतन्य स्वरूप वाला, परिणामी (नयी-नयी योनियों में, भिन्न-भिन्न गतियों में भ्रमण करने के कारण, भिन्न अवस्थाओं में भी परिवर्तनशील होने के कारण परिणाम स्वभाव वाला) कर्ता और साक्षात् भोक्ता, स्वदेह परिमाण के विशेषण से आत्मा को सर्वत्र व्याप्त मानने वाले, प्रत्येक शरीर में भिन्न आत्मा (प्रतिक्षेत्र) एवं पौद्गलिक द्रव्य रूप उदृष्ट वाला माना गया है।

जैन दर्शन में पदार्थ या वस्तु के चिन्तन के अलावा सर्वोच्च स्थान आत्म चिन्तन को दिया गया है। द्वन्द्व के मूल में वस्तुनिष्ठता नहीं आत्मनिष्ठता ही मानी गयी है। आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु दोनों है। आत्मा चाहे तो अपना उद्धार करे अथवा पतन। कोई वस्तुनिष्ठ बाह्य सत्ता इसके लिये उत्तरदायी नहीं है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है-

'पुरिसा ! तुममेव मित्तं किं बहिया मित्तं मिच्छसि'

'हे पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है फिर तू अपने (आत्म

स्वरूप) से बाहर मित्र कहाँ ढूँढ़ता है" ? उत्तराध्ययन सूत्र के २३वें अध्याय में केशी मुनि गणधर गौतम स्वामी से पूछते हैं—

अणोगाणं सहस्साणं, मज्जे चिट्ठसि गोमा।

ते य ते अहिगच्छंति, कंहं ते निज्जिया तुमे॥३५

हे गौतम ! तुम हजारों शत्रुओं के मध्य में खड़े हो, वे शत्रु तुम्हें जीतने को तैयार हैं। तुमने उन शत्रुओं को कैसे जीता ?

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।

दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं॥३६

एक के जीतने पर पांच जीते गये, और पांच से दस, दस प्रकार के शत्रुओं को जीतकर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया।

सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी॥३७

हे गौतम ! वे शत्रु कौन से हैं ? केशी श्रमण के इस प्रश्न का गौतम स्वामी उत्तर देने लगे।

एगप्पा अजिए सत्तु, कसाया इंदियाणि य।

ते जिणिता जहानायं, विहरामि अहं मुणी॥३८

हे मुनि, एक निरंकुश आत्मा ही शत्रु है और इन्द्रियां तथा कषाय शत्रु रूप है। उन्हें न्यायपूर्वक जीतकर मैं विचार रहा हूँ।

अप्पाण जुज्झाहि, किं ते जुज्जेण बज्झओ,

अप्पाणमेव अप्पाणं, जस्ता सुहमेहए॥

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करो बाहरी शत्रु के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतने वाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

आत्मा अनादि काल से इस संसार में कर्मानुसार चार गतियों और चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करता रहता है । ये ८४ लाख योनियाँ इस प्रकार हैं :-

७ लाख	पृथ्वीकाय
७ लाख	अपकाय
७ लाख	तेउकाय
७ लाख	वायुकाय
१० लाख	प्रत्येक वनस्पतिकाय
१४ लाख	साधारण वनस्पतिकाय
२ लाख	द्विन्द्रिय
२ लाख	तेईन्द्रिय
२ लाख	चउरिन्द्रिय
४ लाख	देवता
४ लाख	नारकी
४ लाख	तिर्यच
१४ लाख	मनुष्य

कुल- ८४ लाख योनि

इस परिभ्रमण का अन्त तभी होता है जब आत्मा मुक्ति प्राप्त कर लेता है। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्मा जब दिखती नहीं है तो उसे हम कैसे माने ? आत्मा कोई वस्तु या ठोस पदार्थ नहीं है जिसे हाथ से छुआ जा सके। जिस प्रकार हवा को देखा नहीं जा सकता लेकिन उसके कार्य द्वारा उसका अस्तित्व जान सकते हैं जैसे वृक्ष के पत्ते हिलना। जो चीज दिखायी नहीं देती लेकिन उसके कार्यों द्वारा उसके अस्तित्व का पता

चलता है। मनुष्य की मृत्यु होने पर उसका शरीर ज्यों का त्यों रहता है। वह कुछ नहीं कर सकता उसके सारे क्रियाकलाप बन्द हो जाते हैं क्योंकि उसके सारे क्रियाकलाप आत्मा द्वारा होते थे। यही चेतनावस्था आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है।

पुनर्जन्म की मान्यता भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। जैन धर्म में ऐसे हजारों आख्यान हैं जो पुनर्जन्म की मान्यता को पुष्ट करते हैं। तीर्थंकरों के भवों का वर्णन जाति स्मरण ज्ञान द्वारा महापुरुषों सम्राटों एवं राजाओं के पूर्व भवों का उल्लेख आगम ग्रन्थों में भरपूर मिलता है। डॉ. एलेक्जेंडर केनन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक इस सिद्धान्त के विषय में लिखते हैं “वर्षों से मैं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से भड़कता था और उसे मिथ्या सिद्ध करने के लिए मैं पूरी कोशिश करता। ट्रान्स में रहे हुए मेरे रोगी जब ऐसी बातें करते तब मैं उनसे कहता कि वे मूर्खतापूर्ण प्रलाप करते हैं। परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया और एक के बाद दूसरे रोगी यह बात करने लगे तब मैंने इसका तथ्य जानने के लिए तलाश शुरू की। आज तक मैं एक हजार से अधिक केसों की परीक्षा कर चुका हूँ और मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि पुनर्जन्म एक वास्तविक तथ्य है। एक हजार से भी अधिक केसों में से प्रत्येक केस में इस जीवन से पहले सौ वर्ष से लेकर ईसवी सन् पूर्व दो, तीन अथवा उससे भी अधिक हजार वर्ष पहले इस पृथ्वी पर जन्म लेने की बात ज्ञात हुई।”

For years the theory of reincarnation was a nightmare to me and I did my best to disprove it and even argued with my trance subjects to the effect that they were

talking nonsense, and yet as the years went by one subject after another told me the same story inspite of different and variad conscious beliefs, in effect until now, well over a thousand cases have been so investigated and I have to admit that there is such a thing as reincarnation.

In every one of over a thousand cases I have looked into, the existence has gone back to a previous existence on earth over a period varying from a hundred years previously to two, three or more thousand years B. C.

---The Power Within (Rider, 1950) p. 170-71

क्रिश्चियन और इस्लाम धर्म पूनर्जन्म की मान्यता को नहीं मानता लेकिन डॉ. केनन द्वारा दिये गये प्रमाण आत्मा के आस्तित्व को सिद्ध करते हैं। हिपनोटिज्म ट्रान्स में ऐज रिग्रेशन द्वारा मात्र पूर्ण जन्म नहीं वरन् अनेक जन्मों की स्मृति जागृति होती है। अमेरिका की एक गृहिणी रथसिमोन्स ने एज रिग्रेशन के प्रयोग के समय अपने पूर्व भव का ब्यौरा देते हुए कहा कि मैं एस्ट्रल वर्ल्ड में हूँ। यहाँ हमें खाने की या सोने की आवश्यकता नहीं होती और थकान भी नहीं लगती।

वहाँ तुम अपना समय कैसे गुजारती थीं ?

बस मात्र....देखा कहना ।

(कुछ काम नहीं तो) तुमको समय (दिन) लम्बा नहीं लगता था ?

समय बीतता है ऐसा यहाँ हमें लगता ही नहीं। तुम्हारे जैसे दिन और रात यहाँ नहीं है।

तुम वहाँ थी तब पृथ्वी पर ब्रिआन के घर पर क्या हो रहा है यह तुम जानती थीं ?

मेरा उस ओर लक्ष्य नहीं था। हम चाहें तो जान सकते हैं।

तुम जान सकती हो ?

हाँ, चाहूँ तो.....तुम (वहाँ हो तो) चाहो वह देख सकते हो..... सब कुछ।

इच्छामात्र से तुम चाहो वह देख सकती हो ?

संकल्प मात्र से....(वहाँ) तुम सिर्फ विचार करो....और सब देख पाते हो।

तुम दूसरे के मनोभाव जान सकती हो ?

यदि मैं उस ओर ध्यान दूँ तो जान सकती हूँ।.....वह क्या चाहता है अथवा क्या सोचता है यह जान सकती हूँ।

वहाँ एस्ट्रल वर्ल्ड में वृद्धावस्था, रोग मृत्यु जैसा कुछ है ?

यहाँ मृत्यु नहीं है। तुम (वहाँ हो तो) मात्र वहाँ से अन्तर्हित हो जाओगे....दूसरे जीवन में....चले जाओगे, बस....वहाँ मृत्यु नहीं है।

और, कोई रोग ?

ना ।

....

एस्ट्रल वर्ल्ड में तुम थीं तब पृथ्वी पर आये हुए मनुष्यों का भविष्य क्या तुम देख सकती थीं ? पृथ्वी पर रहे लोगों को क्या तुम वहाँ से देख सकती थीं ? उनका भविष्य में क्या होगा यह तुम जान सकती थीं ?

हाँ

तुम यह कैसे कह सकती हो? एक दृष्टान्त दो।

वहाँ रहने वाले को अन्यत्र जन्म लेने से पहले....मालूम हो जाता है कि उसे वहाँ से जाना है।.... वे देख सकते हैं.... क्या होने वाला है यह वे लोग ... वहाँ रहे हुए लोग... देख सकते हैं।

यह आधुनिक विज्ञान के प्रयोग की रिपोर्ट जैन आगम शास्त्रों में दिये देवलोक के वर्णन की पुष्टि करती है। और पुनर्जन्म की मान्यता के साथ-साथ आत्मा के अस्तित्व के विषय में वैज्ञानिक प्रमाण उपस्थित करती है।

उपनिषदों की बहुश्रुत श्रुति “पूर्णमदः पूर्णमिदम्” में चेतना का स्वरूप बोध है। चेतना वह हो या यह, ईश्वरीय हो या मानवीय सभी अपने रूपों में पूर्ण होती है। आज फोटोग्राफी तकनीक बहुत ही विकसित हो चुकी है। होलोग्राम त्रिआयामी तकनीक लेजर किरणों से बनती है। यदि हम एक फल का होलोग्राफ लें और फिर उस फिल्म के दो या अधिक से अधिक टुकड़े कर दें तब भी प्रत्येक टुकड़े में सम्पूर्ण फल का चित्र उभरेगा। विज्ञान मनीषी स्टेनले आरडीन ने इस होलोग्राफिक सिद्धान्त का साम्य भारत के ऋषियों के उस आध्यात्मिक चिन्तन से किया है जिसमें जीवन पदार्थों के कण-कण में चेतना की सम्पूर्णता व अखंडता साफ-साफ दीखती है। प्रौ. जे. ए. ऐशबी ने अपनी किताब (Holographic Models of Consciousness--- चेतना के बहुआयामी रूप) में लिखा है कि ‘पहेलियों जैसी लगने वाली उपनिषदों की श्रुतियाँ वास्तव में भारत के प्राचीन ऋषियों के गहन प्रयोगात्मक निष्कर्ष हैं। उन्होंने चेतना के बारे में हजारों साल पहले जो तथ्य

उजागर किये थे वो होलोग्राफिक सिद्धान्तों के वैज्ञानिक उजाले में प्रमाणित होने लगे हैं।’ जैन दर्शन में “चैतन्यो लक्षणो जीव” कहा गया है अर्थात् जहाँ चैतन्य दिखाई दे वहाँ जीव या आत्मा का अस्तित्व होता है। आत्मा का अनुभव स्पर्श गन्ध, रूप और शब्द से परे है इसलिये इन्द्रियों द्वारा भी आत्मा का अनुभव नहीं किया जा सकता। जीव है और वह शरीर से भिन्न है तो उसके क्या लक्षण हैं? यह उत्तराध्ययन सूत्र की इस श्लोक से स्पष्ट होता है—

नाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तथा,
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं।।

अर्थात् ‘ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये छः जीव के लक्षण हैं।’ जीव के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र स्वामी ने षड्दर्शन समुच्चय में कहा है—

तत्र ज्ञानादि धर्मैभ्यो भिन्ना भिन्न विवृतिमान,
कर्ता शुभाशुभं कर्म, भोक्ता कर्म फल तथा।।

‘यह जीव (आत्मा) ज्ञानादि धर्मों वाला है, भिन्न-अभिन्न का विवेचक है, शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता और कर्मों के फल का भोक्ता है, यह जीव चैतन्य लक्षण वाला है।’

आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी शंका का सुन्दर निवारण ‘रायपसेणीयसुत्त’ में वर्णित प्रदेशी राजा के प्रबन्ध से मिलता है। जो इस प्रकार है—

२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा में केशीकुमार श्रमण हुए। वे महातपस्वी, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान से युक्त थे। एक बार श्रावस्ती नगरी में उनका आगमन हुआ वहाँ (सेवयविया) श्वेताम्बिका नगरी के राजा प्रदेशी का चित्र नाम का सारथी उनका प्रवचन सुनने आया।

केशी मुनि का व्याख्यान सुनकर चित्र सारथी ने श्रावक धर्म ग्रहण किया और श्वेताम्बिका नगरी में पधारने की विनति की। कुछ समय पश्चात् आचार्य केशी अपने शिष्यों के साथ श्वेताम्बिका नगरी के उद्यान में पधारे। जब चित्र सारथी ने आचार्य के आगमन की खबर सुनी तो उसने जाकर मुनि महाराज की वंदना कर कहा - “हमारे महाराजा को धर्म मार्ग में प्रवृत्त करें क्योंकि उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं है।” आचार्य ने कहा कि राजा को यहाँ लेकर आओ तभी यह कार्य सम्भव हो सकता है। तब एक दिन चित्र सारथी प्रभात में राजा को घोड़ों की परीक्षा कराने के बहाने घुमाने ले गया। लौटते समय उद्यान में जहाँ केशी मुनि थे वहाँ ले गया। राजा ने केशी मुनि को उपदेश देते सुनकर सारथी से पूछा - “यह कौन व्यक्ति है और यह गला फाड़कर लोगों को क्या समझा रहा है?” चित्र सारथी ने बताया कि ये अवधिज्ञान धारी केशी कुमार श्रमण है। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने जाकर मुनि महाराज से पूछा क्या आप अवधिज्ञान धारी है। केशी मुनि ने राजा के अन्तर्मन में उठे विचारों को राजा को बताया जिसे सुनकर राजा की जिज्ञासा और भी बढ़ने लगी और उसने जीव के विषय में अपने संशयों को प्रकट किया। उसने कहा कि मैं मानता हूँ कि जीव और शरीर एक ही है क्योंकि मेरा दादा इस नगरी का राजा था वह अधार्मिक तथा प्रजा को कष्ट देने वाला था। उसका मुझपर बड़ा स्नेह था। यदि जीव और शरीर भिन्न है तो वह नरक में गया है तो यहां आकर मुझे बताना चाहिये था कि अधर्म करने से नरक में जाना पड़ता है, भयंकर यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। लेकिन वे मुझे यह बताने कभी भी नहीं आये अतः मेरी मान्यता है कि जीव और शरीर एक ही है मुझे सही प्रतीत होती है। इस पर

केशी मुनि ने कहा— “हे राजा ! यदि तुम्हारी रानी के साथ कोई कामुक पुरुष असभ्यता करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?” राजा ने कहा “मैं उसे सूली पर चढ़ा दूंगा।” आचार्य ने कहा कि यदि अपराधी यह कहे कि ‘हे राजा ! थोड़ा ठहर जाओ जिससे मैं अपने साथियों और सम्बन्धियों को यह बता दूँ कि कभी ऐसा कृत्य मत करना क्यों कि इसकी सजा मृत्यु है तो हे राजा ! क्या तुम रूक जाओगे।’ राजा ने कहा- “ऐसा नहीं हो सकता। मैं बिना बिलम्ब किये उसे सूली पर चढ़ा दूंगा।” तब आचार्य ने कहा कि ‘इसी प्रकार तुम्हारा परदादा भी परतन्त्र होकर नारकीय दुःख भोग रहा है तो वह तुम्हें यहाँ कहने के लिये कैसे आ सकता है ? नरक में पहुँचा हुआ नया अपराधी मनुष्य लोक में आना तो चाहता है पर चार कारणों से नहीं आ सकता— प्रथम तो नरक की भयंकर वेदना उसे विह्वल कर देती है, दूसरे नरक के कठोर रक्षक उसे घड़ी भर के लिये भी बन्धन मुक्त नहीं करते, तीसरे वेदनीय कर्म का भोग पूरा नहीं होता, चौथे उसका आयुष्य पूरा किया नहीं होता इसलिये वह मनुष्य लोक में नहीं आ सकता। जिस प्रकार मरकर नरक में पड़ा हुआ प्राणी यहाँ नहीं आ सकता उसी प्रकार कोई स्वर्गिक सुखों को भोगता हुआ मनुष्य इस लोक में चार कारणों से आने में असमर्थ है। प्रथम, वह देव स्वर्ग के दिव्य सुखों में अत्यन्त लिप्त हो जाता है और मानवीय सुखों में उसकी रुचि नहीं रहती। दूसरे, उस देव का मनुष्य सम्बन्ध टूट कर देव-देवियों से जुड़े नये सम्बन्धों में लगा रहता है। तीसरे, देव सुखों के कारण उसको काल व्यतीत होने का भास नहीं होता। हमारे हजारों वर्ष देवों के पल मात्र में बीत जाते हैं। चौथे—मनुष्य लोक की दुर्गन्ध देव सह नहीं सकता।’

जिस तरह छिद्र रहित कोठरी में से आवाज बाहर निकल सकती है वैसे ही छिद्र रहित कुम्भी से जीव भी बाहर निकल सकता है। अर्थात् धातु, पत्थर, पहाड़ आदि को भेद कर चले जाने का सामर्थ्य जीव में है इसलिये उसे कहीं भी बन्द कर दिया जाये, तब भी वह बाहर निकल सकता है। जैसे अरणी की लकड़ी में अग्नि रहती है लेकिन वह दिखायी नहीं देती इसी प्रकार शरीर में आत्मा है। इस प्रकार केशी कुमार श्रमण के इस उपदेश से प्रदेशी राजा की शंका का निवारण हो जाता है और उन्हें आत्मा के अस्तित्व का विश्वास हो जाता है।

भगवान् महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति और तृतीय गणधर वायुभूति को जिन शासन में आने के पूर्व जीव या आत्मा के सम्बन्ध में शंका थी। अपनी ख्याति और पांडित्य के कारण वे किसी के सम्मुख अपनी शंका नहीं जाहिर करते थे। जब वे भगवान् महावीर के समवसरण में गये तो भगवान् ने उनके नाम और गोत्र से उन्हें सम्बोधित कर पहले उनकी शंका बतायी और फिर उसका समाधान किया। इसका वर्णन विशेषावश्यक भाष्य (गाथा १५४९-१६०५, १६४५-१६८६) में उपलब्ध है जो इस प्रकार है—

भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्ति के बाद अपापा नगर के महासेन उद्यान में देवों द्वारा रचित समवसरण के मध्य में देव निर्मित सिंहासन पर बैठकर अपनी अमोघ दिव्यवाणी से धर्म देशना देने लगे। सम्पूर्ण जन समुदाय उनके पूर्ण ज्ञान से युक्त उपदेशों और वाणी की माधुर्यता से अभिभूत हो गया। सर्वत्र प्रशंसा होने लगी जिसे सोमिल की यज्ञशाला में आये हुए अतिथि विद्वानों ने भी सुना। इन अतिथि विद्वानों में इन्द्रभूति गौतम प्रकाण्ड वैदिक विद्वान थे। उन्होंने भी जब भगवान्

महावीर की सर्वज्ञता के विषय में सुना तो उनको परखने के लिये अपने ५०० शिष्यों के साथ भगवान् के पास पहुँचे। महावीर ने उनको देखकर उनका नाम लेकर पूछा— गौतम ! ‘क्या तुम्हें आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका है ?’ इन्द्रभूति ने कहा— हाँ ! मुझे इस विषय में शंका है क्योंकि वेदों में कहा है कि भूत समुदाय से चेतन पदार्थ उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। परलोक नहीं है। भूत समुदाय के अतिरिक्त पुरुष का कोई अस्तित्व नहीं है। तब भगवान् ने कहा विज्ञानधन आदि पदों का अर्थ जैसा तुम समझते हो वैसा नहीं है। भूत समुदाय से उत्पन्न चेतन पिण्ड नहीं होकर विज्ञानधन का अर्थ विविध ज्ञान पर्यायों से है। आत्मा का तिरोभाव होता रहता है। अतः अन्यान्य पदार्थ विषयक ज्ञान के पर्याय में विज्ञानधन है जो भूतों से उत्पन्न होता है ये पृथ्वी आदि पंच भूत नहीं होकर जीव अजीव आदि सभी ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ हैं। महावीर के मुख से यह तर्क प्रधान और प्रामाणिक विवेचना को सुनकर गौतम के मन की शंका नष्ट हो गई और अर्न्तमानस विशुद्ध हो गया।

गणधर बनने के बाद गौतम स्वामी भगवान् महावीर के समीप आये और जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न किया—

“भंते किं तत्त्वम् !” भगवन् ! तत्त्व क्या है ?

महावीर ने कहा—

“उप्पन्नेइ वा” उत्पाद / उत्पन्न होता है। इस उत्तर से इन्द्रभूति की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। वे सोचने लगे कि यदि उत्पन्न ही उत्पन्न होता रहा तो सीमित पृथिवी में उसका समावेश कैसे होगा ? अतः पुनः प्रश्न किया—

“भंते! किं तत्त्वम्” भगवन्! तत्त्व क्या है?

महावीर ने कहा—

“विगमेद् वा” विगम/नष्ट होता है।

इन्द्रभूति का मानस पुनः संशयशोल हो उठा। सोचने लगे—यदि विगम ही विगम होगा, तो एक दिन सब नष्ट हो जायेगा, संसार पूर्णतः रिक्त हो जाएगा। अतः संशय-निवारण हेतु पुनः प्रश्न किया—

“भंते! किं तत्त्वम्!” भगवन्! तत्त्व क्या है?

पुनः महावीर ने उत्तर दिया—

“धुएत्ति वा” ध्रुव/शाश्वत रहता है।

यह उत्तर सुनते ही इन्द्रभूति को समाधान मिल गया, उनका संशय दूर हो गया।

आत्मा कभी भी जन्मी नहीं वह अनादि कहलाती है और कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होती। वह अविनाशी या अमर कहलाती है। मूल द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को नित्य और पर्याय की अपेक्षा से आत्मा को अनित्य कहा जाता है। अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द ये आत्मा के गुण हैं। वह अरूपी है जिसका छेदन भेदन नहीं हो सकता, अग्नि द्वारा उसको जलाया नहीं जा सकता, पानी से भीगता नहीं, हवा से सूखता नहीं है। जैसे सोना पहले मिट्टी में मिला होता है उसी प्रकार आत्मा अनादिकाल से कर्म में लिप्त है और उसका कर्मबन्धन प्रति समय चालू ही है।

आत्मा शरीर द्वारा क्रिया करता है और उसके संस्कार उस पर पड़ते हैं। श्री पन्नवण्य सूत्र में लिखा है— “पंच सरीरा पणत्ता” अर्थात् पाँच प्रकार के शरीर होते हैं।

१. **औदारिक**— जो शरीर उत्कृष्ट पुद्गलों का बना होता है वह औदारिक कहलाता है।

२. **वैक्रिय**— जिस शरीर में बड़ा छोटा, मोटा पतला तथा अनेक रूप धारण करने की क्षमता होती है वह वैक्रिय कहलाता है। देव और नारकियों को ऐसा शरीर प्राप्त होता है।

३. **आहारक**— तत्त्वार्थ सम्बन्धी शंका निवारण के लिये चौदह पूर्वधर मुनि केवलज्ञानी के पास जाने के लिये जिस एक हाथ प्रमाण शरीर धारण करते हैं वह आहारक कहलाता है। मनुष्य को यह शरीर लब्धि से प्राप्त होता है।

४. **तेजस**— जो शरीर खाये हुए आहार को पचाने में समर्थ है और तेजोमय तथा उष्मा देने वाला है वह तेजस कहलाता है।

५. **कार्माण्य**— जब आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से युक्त रहता है तो वह कार्माण्य शरीर कहलाता है।

जिस शरीर में आत्मा प्रवेश करता है वह शरीर वहाँ तैयार नहीं रहता है बल्कि वहाँ उत्पन्न होकर अपने कर्मानुसार देह की रचना करता है। जैन शास्त्र में देह रचना के लिये ६ पर्याप्ति का क्रम बतलाया गया है। (१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति, (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति और (६) मन पर्याप्ति।

पूर्व स्थान पर अपनी देह छोड़ कर नयी आनुपूर्वी, गति, जाति आदि नाम कर्म रूप कार्मण शरीर के अनुसार नवीन जन्म क्षेत्र में पहुँच कर स्वजाति योग्य देह धारण करने के लिये जीव जिस शक्ति द्वारा पुद्गल ग्रहण करता है उसे **आहार पर्याप्ति कहते हैं।**

आहार पर्याप्ति द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल को धातु रूप में परिणत कर शरीर नाम और कर्म के अनुसार देह रचना में रूपान्तर करता है। इसी को **शरीर पर्याप्ति** कहते हैं। अर्थात् जीव पूर्व जन्म से कार्मण शरीर के समान तेजस शरीर भी साथ लाता है जिसके द्वारा आहार को पचाकर रस रुधिर रूप में वह शरीर का निर्माण करता है। इनमें से तेजस्वी पुद्गलों से इन्द्रिय बनाता है, जिसे **इन्द्रिय पर्याप्ति** कहते हैं। प्रतिक्षण आहार ग्रहण करने का, शरीर बढ़ाने का और इन्द्रियों को बना कर दृढ़ करने का काम जारी रहता है। अन्तमुहूर्त में शरीर और इन्द्रियाँ तैयार हो जाती है। तब श्वास के पुद्गल ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास की शक्ति गृहित होती है। यही श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। ऐकेन्द्रिय जीव को चार शक्तियों की ही पर्याप्ति होती है।

द्विन्द्रिय जीवों को रसना की भी प्राप्ति होती है अतः वे भाषण के पुद्गल धारण कर उन्हें भाषा रूप में परिणत करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। यही **भाषा पर्याप्ति** है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मन के पुद्गल लेकर उन्हें मन रूप में परिणत करते हैं जो **मन पर्याप्ति** कहलाती है। इस प्रकार आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छः पर्याप्तियाँ पुद्गल के आधार पर उत्पन्न होती हैं। अतः यह मानना कि शरीर की रचना पहले होती है और आत्मा का उसमें प्रवेश बाद में होता है सही नहीं है। एक ही माता पिता से उत्पन्न होने वाली सन्तानों के शरीर, रूप, रंग आदि में बहुत अन्तर पाया जाता है अतः आत्मा देह का पर्याप्तियों द्वारा निर्माण करता है।

सभी जीवों का जन्म दो प्रकार से होता है।

(१) **गर्भज** — स्त्री-पुरुष के शुक्र और रज के मिलन से गर्भ में

कुछ समय परिपक्व होने के बाद जिस चेतन अवयव का जन्म होता है उसे गर्भज प्राणी कहते हैं।

(२) **समुच्छिन्न**— स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना शरीर के किसी रस से जन्म लेने वाले जीव को समुच्छिन्न जीव कहते हैं।

आत्मा का स्वरूप लक्षण समत्व (equanimity) है। भगवती सूत्र में गणधर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर के सम्मुख आत्मा सम्बन्धी दो प्रश्न किये। आत्मा क्या है और उसका साध्य क्या है? भगवान् ने इनका उत्तर देते हुए कहा, 'आत्मा समत्व रूप है और समत्व की उपलब्धि कर लेना ही आत्मा का साध्य है।' आचारांग सूत्र में भी समता को धर्म कहा गया है क्योंकि वस्तु स्वभाव ही धर्म है और आत्मा का मूल स्वभाव समता है। अतः आत्मा का अपना मूल रूप प्राप्त करना ही उसका साध्य है। जैन दर्शन में साधक, साध्य और साधना तीनों ही आत्मा से अभिन्न हैं। आत्मा स्व को पूर्ण स्व ही बनाती है। इस प्रकार आत्मा ही साधक, आत्मा ही साध्य और आत्मा ही साधन है। चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प के पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होकर साधना मार्ग बन जाते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक पक्ष ही क्रमशः सम्यक् ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक् चरित्र बन जाते हैं। जैन दर्शन के इसी तत्त्व को वाचक उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम श्लोक में प्रतिपादित किया है "सम्यक दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्गं"। प्रत्येक संसारी आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है जो इन त्रिरत्नों के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने भी इन तीनों को आत्मा से अभिन्न माना है। उनके अनुसार— "ज्ञान आत्मा है, दर्शन आत्मा है और चरित्र भी आत्मा है।"

ज्ञान आत्मद्रव्य की प्रमुख विशेषता है । यह किसी भी जड़ पदार्थ में नहीं मिलती है। आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थ को जानता है और देखता है, उस पर श्रद्धा करता है तथा हेय-उपादेय का विवेक करके चारित्र्य मार्ग में आगे बढ़ने के लिये शक्तिमान होता है अर्थात् ज्ञान आध्यात्मिक विकास का आधार है, सिद्धि का साधक है।

सम्यग्ज्ञान के मुख्य पाँच प्रकार हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। ये पाँचों ज्ञान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इनके पाँच भेदों के प्रत्येक के उत्तर भेद भी हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, बहू, बहुविध आदि भेदयुक्त, इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को **मतिज्ञान** कहते हैं। **श्रुतज्ञान** — अंग, उपांग, आदि को विस्तारयुक्त स्याद्वाद से युक्त ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान के अनेक भेद हैं। इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा से अमुक अवधि तक रूपी द्रव्यों का ज्ञान होता रहे **अवधिज्ञान** है। अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं— (१) भवप्रत्ययिक और (२) गुण-प्रत्ययिक (क्षयोपशमजन्य)। देवता और नारकों को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है ; किन्तु मनुष्यों और तिर्यचों को यह ज्ञान क्षयोपशम से होता है। वह छह प्रकार का होता है— अनुगामि, अननुगामि, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति और अप्रतिपाति। **मनःपर्यवज्ञान** के ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं। ऋजुमति साधारणतः प्रतिपाति होता है ; परन्तु विपुलमति मनःपर्यवज्ञान एक बार प्राप्त होने पर कदापि नहीं जाता। जगत् के सर्वकालों, सर्वद्रव्यों, सर्वपर्यायों का आत्मा से सीधा होने वाला विश्वलोचन के समान अनन्त, अतीन्द्रिय, अपूर्वज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। इस तरह पाँच ज्ञान से सभी तत्व जाने जा सकते हैं। ज्ञान साधक, मोक्ष के कारणरूप

रत्नत्रय के प्रथम भेद का ज्ञाता बन सकता है। संसार-रूपी वृक्ष के समूल उन्मूलन के लिए मदोन्मत्त हाथी के समान, अज्ञान-अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान, जगत् के तत्वों को प्रकाशित करने के लिये अपूर्व नेत्रसमान तथा इन्द्रियों रूपी हिरनियों को वश करने हेतु जाल के समान यह सम्यग्-ज्ञान ही है। (योगशास्त्र)

संधारापोरिसी की एक गाथा में लिखा है—

एगो में सासओ अप्पा, नाणदेसण संजुओ
संसा में बहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।।

‘एक मेरा ही आत्मा शाश्वत है जो ज्ञान दर्शन से युक्त है। ज्ञान दर्शन के अलावा सब भाव बहिर्भाव है क्योंकि वे जन्म के संयोग से प्राप्त हुए हैं’, अर्थात् वे इस जन्म तक के लिये ही बने हैं । दूसरे जन्म में साथ नहीं जाने वाले। आत्मा अकेला आया है, अकेला जायेगा। आत्मा की ज्ञानशक्ति बहुत बड़ी है। आत्मा अपनी ज्ञान शक्ति से करोड़ों वर्षों के संचित कर्मों का क्षण मात्र में भस्म कर सकता है। अज्ञानी जिन कर्मों का क्षय सैकड़ों वर्षों में करता है ज्ञानी पल मात्र में कर डालता है। इलापुत्र के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है।

‘धन दत्त सेठ को अनेक मन्त्रों मानने के बाद एक पुत्र की प्राप्ति हुई, जिसका नाम इलापुत्र रखा गया । यह लड़का बड़े ही लाड़ प्यार में पल कर बड़ा हुआ और यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। एक बार नट लोग तमाशा दिखलाने आये। एक युवती नटी को देखकर इलापुत्र मोहित हो गया और उसने कहा कि मैं शादी करूंगा तो उसी के साथ। सेठ ने बहुत समझाया पर इलापुत्र नहीं माना। तब सेठ ने नटों को बुलाकर कहा कि तुम जितना चाहे धन ले लो पर अपनी पुत्री का

विवाह मेरे पुत्र के साथ कर दो। नटों ने कहा हम अपनी पुत्री की बिक्री नहीं करते, लेकिन अगर आपका पुत्र हमारे साथ रहे और हमारी सारी कलाएँ सीख कर किसी राजा को खुश कर करके बड़ा इनाम पाये तो हम अपनी पुत्री की शादी उसके साथ कर देंगे। सेठ के इन्कार करने पर भी इलापुत्र ने यह शर्त मंजूर की और घरबार का त्याग कर उनके साथ चल पड़ा। थोड़े ही दिनों में सारी विद्याएँ सीख गया और राजा को रिझाने के लिये बेनातट नगर में आया और अपना अद्भुत खेल दिखाने लगा। राजा ने भी खेल देखा। खेल देखते-देखते राजा भी नटपुत्री पर मोहित हो गया। इलापुत्र ने बड़ा अद्भुत खेल दिखाया पर राजा खुश नहीं हुआ। इतने वर्ष की मेहनत बेकार जायेगी यदि राजा प्रसन्न नहीं हुआ यह सोचकर वह पुनः पुनः खेल दिखाने लगा। वह पाँचवी बार खेल दिखाते हुए बाँस पर जब चढ़ा उसी समय उसकी नजर पास की एक हवेली पर पड़ी जहाँ एक अति रूपवती स्त्री हाथ में मोदक का थाल लिये खड़ी थी और एक मुनिराज से उसे ग्रहण करने के लिये विनती कर रही थी परन्तु मुनिराज मोदक नहीं ले रहे थे और आँख उठाकर स्त्री की ओर देख भी नहीं रहे थे। यह देख इलापुत्र को भोग की निस्सारता स्पष्ट हो गयी और सोचने लगे धिक्कार है मुझको मेरी इस मोह में फँसी आत्मा को। और ज्यों-ज्यों आत्मा के प्रति कर्तव्य का ज्ञान होता गया त्यों-त्यों उनके कर्मों का क्षय होने लगा और उपार्जित किये कर्मों का नाश होते ही बाँस पर खड़े-खड़े केवल -ज्ञान हो गया उसी समय अलौकिक प्रभाव के चलते बाँस की जगह सिंहासन बन गया। यह दृश्य देखकर रानी भी विचार करने लगी कि इतनी रूपवती रानी के होते हुए भी राजा का मन एक नटपुत्री पर आ गया। यह संसार असार है। उसके हृदय में भी ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई और उसके भी

घाती कर्मों का नाश होते ही उसे भी केवलज्ञान हो गया। यह दृश्य देखकर राजा का भी हृदय परिवर्तित हुआ तथा पश्चाताप करने लगा। उसे भी संसार असार प्रतीत होने लगा तथा कुछ ही क्षणों में केवलज्ञानी बन गया। इधर नटपुत्री भी विचारने लगी कि इस सारे अनर्थ की जड़ मैं हूँ। मेरे कारण इलापुत्र ने घर छोड़ा, राजा की नियत बिगड़ी। धिक्कार है मेरे इस रूप को। उसके हृदय में भी जबरदस्त परिवर्तन हुआ और शुद्ध भावना ध्याते हुए केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अतः आत्मतत्त्व को पहचानने का नाम ही सम्यग्ज्ञान है। आत्मबोध के बिना संसार की सारी विद्वत्ता निरर्थक है। आचारांग में लिखा है -

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ

जो अनन्त पर्यायों सहित एक पदार्थ को जानता है वह समस्त पदार्थों को जानता है और समस्त पदार्थों को जानता है वही अनन्त पर्यायों सहित एक पदार्थ को सम्पूर्ण रूप से जानता है।

जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया,
जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए,
एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए त्ति बेमि

(आचारांग ५। ५। १६५)

नित्य और उपयोग रूप से जो आत्मा है वही विज्ञाता है अर्थात् वस्तुओं को जानने वाला भी वही विज्ञाता है और वही आत्मा है। और जो जीव का लक्षण उपयोग है जो ज्ञान रूप है अतः इस ज्ञान परिणाम के कारण आत्मा ज्ञानवान् कहा जाता है। जो ज्ञान और आत्मा को अभिन्न मानता है वही आत्मवादी है।

आत्माऽज्ञानभवं दुःखमात्मज्ञानेन हन्यते ।

तपसाऽप्यात्मविज्ञानहीनैश्छेत्तुं शक्यते ॥३

आत्मा को अज्ञान के कारण दुःख होता है, और वह दुःख आत्मज्ञान से ही नष्ट किया जाता है। जो आत्मज्ञान से रहित हैं, वे मनुष्य तपस्या आदि से भी दुःख का छेदन नहीं कर सकते।

ज्ञान और दर्शन आत्मा का स्वभाव है इसलिये आत्मा कभी भी ज्ञान दर्शन रहित नहीं होती है। निगोद अवस्था में ज्ञान न्यूनतम होता है, केवलज्ञानी हो जाने पर अधिकतम। केवलज्ञानी का अर्थ है पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ। जो त्रिलोक के समस्त पदार्थों को जान जाते हैं। देवों को सुख वैभव बहुत होता है उन्हें अवधिज्ञान जन्म से होता है। लेकिन चारित्र के अभाव में केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होता। नारकी जीव भी अवधिज्ञानी होते हैं लेकिन दुःख का निरन्तर अनुभव करते रहने के कारण चारित्र परिणामी नहीं होते अतः उन्हें भी केवलज्ञान नहीं होता। तिर्यचों को जातिस्मरण ज्ञान व अवधिज्ञान भी होता है परन्तु चारित्र के अभाव में वे भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। केवलज्ञान किसी का दिया नहीं आता, उसे स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करना पड़ता है। कोई व्यक्ति दीर्घकाल तक कैदखाने में पड़ा हो और अनेक यातनाएं भोगता हो, लेकिन अगर उसे एकाएक छोड़ दिया जाए तो वह कितना आनन्दित होता है। उसी प्रकार आत्मा जो अनन्त भवों से कर्म बन्धन में पड़ा असख्य यातनाएं भोगता आ रहा हो वह कर्म बन्ध से छूट जाने पर कितना आनन्दित होगा। देवताओं के समस्त सुखों को एकत्र कर यदि उन्हें अनन्त गुणा कर दिया जाये तब भी मुक्ति सुख की बराबरी नहीं हो सकती। मुक्तावस्था में, सिद्धावस्था में, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, शक्ति

और सुख का चरम विकास होता है। उससे श्रेष्ठतम अवस्था और कोई नहीं है। यह तीर्थकरों के जीवन से परिलक्षित होता है जहाँ आत्मा की शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची होती है।

तीर्थकर भगवान् के भवों की गणना भी तभी से प्रारम्भ की जाती है जबसे उनकी आत्मा सम्यकत्व को स्पर्श करती है। सम्यकत्व की प्राप्ति, सम्यकत्व का लाभ ये सभी आत्मविकास के मार्ग की ओर ले जाते हैं। सम्यकत्व या सम्यग्दर्शन बिना सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, सम्यक्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती और सम्यक् चरित्र बिना आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। चतुर्दश पूर्वधर **श्री भद्रबाहु स्वामी** ने उवसगहरं स्तोत्र में कहा है —

तुह सम्मते लब्धे, चिंतामणिकप्पपाय वब्भहिए।

पावति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥

हे पार्श्वनाथ प्रभो! आपका सम्यक्त्व चिन्तामणि रत्न कल्पवृक्ष से भी बढ़कर है, कारण कि उसका लाभ होने पर जीव बिना विघ्न अजरामर स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं। आचारांग नियुक्ति में तप, ज्ञान, चारित्र से पूर्व सम्यक् दर्शन की प्राथमिकता को स्वीकार कर आचार्य भद्रबाहु लिखते हैं— “तम्हा कम्माणीयं जे उ मणो दंसणम्मि पज्जइच्चादंसणवओ हि सफलाणि हुंति तवणाण चरणाइ”

(आचारांग नियुक्ति गाथा २२१)

‘सम्यग्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति के ही तप, ज्ञान और चारित्र सफल होते हैं।’

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक्श्रद्धानमुच्चयते।

जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा ॥१९

अर्थात् श्री जिनेश्वर भगवान् के द्वारा कथित तत्त्वों में रुचि होना सम्यक्दर्शन कहलाता है। यह सम्यक्दर्शन निसर्ग से (स्वभावतः) तथा गुरु महाराज के उपदेश से होता है।

जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन में आत्मसाक्षात्कार, तत्त्व श्रद्धा, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण और श्रद्धाभक्ति आदि का समावेश है। जीव, अजीव आदि नव पदार्थों को जो यथार्थरूप से जानता है उसे ही सम्यक्त्व होता है। आत्मा की मोक्ष की प्राप्ति के लिये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का त्रिविध साधना मार्ग बताया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में इन तीनों के साथ सम्यक् तप को भी जोड़ा गया है। पाश्चात्य विचारधारा में भी (१) स्वयं को जानो, (२) स्वयं को स्वीकार करो और (३) स्वयं ही बन जाओ। ये तीनों ज्ञान, दर्शन और चारित्र के समान हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान तत्त्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्म निर्माण में चारित्र का तत्त्व समाहित है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में दर्शन और ज्ञान के बाद मुक्ति के लिये चारित्र परम आवश्यक है। सम्यक् चारित्र का निश्चयात्मक अर्थ है स्वस्वरूप में रमण करना।

सर्व-सावद्य-योगानां, त्यागश्चारित्रमिष्यते।

कीर्तितं तदहिंसादि-व्रतभेदेन पञ्चधा ॥१८

अर्थात् समस्त पापयुक्त (सदोष) योगों का त्याग करना चारित्र कहलाता है। यह चारित्र अहिंसा आदि व्रत के भेद से पाँच प्रकार का कहा है।

अहिंसा-सूनृतास्तेय-ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा : ।

पञ्चभिः पञ्चभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये ॥१९

अहिंसा, सव्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं और इन पाँचों महाव्रतों में से प्रत्येक महाव्रत पाँच-पाँच भावनाओं से युक्त होता है। ये भावनाएँ मुक्ति के लिए (सहायक) होती हैं।

न यत् प्रमादयोगेन जीवित-व्यपरोपणम्।

त्रसानां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ॥२०

प्रमाद के योग से त्रस या स्थावर जीवों के प्राणों का हनन न करना, प्रथम अहिंसा महाव्रत माना गया है।

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते।

तत् तथ्यमपि नो तथ्यम्, अप्रियं चाहितं च यत् ॥२१

दूसरे को प्रिय, हितकारी और यथार्थ वचन बोलना सत्यव्रत कहलाता है। परन्तु जो वचन अप्रिय या अहितकर है, वह तथ्यवचन होने पर भी सत्यवचन नहीं कहलाता ।

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।

बाह्यः प्राणो नृणामर्थो, हरता तं हता हिते ॥२२

वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना, अस्तेय (अचौर्य) व्रत कहा गया है। धन मनुष्यों का बाह्य प्राण है ; उसके हरण करने से उसके प्राण का हनन हो गया।

दिव्यौदारिककामानां, कृतानुमतिकारितै : ।

मनो-वाक्-कायतस्त्यागो, ब्रह्माष्टादशधा मतम् ॥३३

दिव्य (देव-सम्बन्धी) और औदारिक कामों (मदनकामों-मैथुनों) का मन, वचन और शरीर से करने, और अनुमोदन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है, जो अठारह प्रकार का होता है।

सर्वभावेसु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।

यदसत्स्वपि जायेत, मूर्च्छया चित्तविल्पवः ॥२४

संसार के सारे (सजीव-निर्जीव) पदार्थों पर मूर्च्छा का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है। पास में वस्तु नहीं होने पर भी आसक्ति से मन में विचारों की उथल-पुथल होती रहती है।

जैन दर्शन में चारित्र दो प्रकार का माना गया है। (१) व्यवहार चारित्र और (२) निश्चय चारित्र जिन्हें क्रमशः द्रव्य चारित्र और भाव चारित्र भी कहा जाता है। आध्यात्मिक विकास के लिये दोनों की साधना आवश्यक है। जैन दर्शन में भाव चारित्र के रूप में समता का विवेचन है। निश्चय रूप से सम्यक् चारित्र का वास्तविक अर्थ समता की उपलब्धि है। जब आत्मा के द्वारा आत्मा में रमण करता है वही निश्चय आचार होता है 'जे अणण्ण दंसी से अणण्णरामे, जे अणण्ण रामे से अणण्ण दंसी।' अर्थात् जो आत्मा को देखता है वह आत्मा में रमण करता है जो आत्मा में रमण करता है वह आत्मा को देखता है। तथा व्यवहार चारित्र के अन्तर्गत आचरण के ब्राह्म नियमों का निरूपण है जिनमें समिति, गुप्ति, इन्द्रिय निग्रह, तप-ध्यान तथा महाव्रतों का पालन आदि है। इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करने के लिये सम्यक् दर्शन व सम्यक् ज्ञान के साथ ही सम्यक् चारित्र (आचार साधना) में स्वयं को तपाकर ही भव बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है-

तहा विमुक्करस्स परिन्न चारिणो ।

धिइमओ दुक्ख श्वमस्स भिक्खुणो ॥

विसुज्जई जंसि मलं पुरे कडं ।

समीरियं रुप्प मलं व जोइणा ॥

जिस प्रकार अग्नि चांदी के मैल को जलाकर उसे परिशुद्ध कर देती है उसी प्रकार ज्ञानपूर्वक आचरण करने वाला धैर्यवान और कष्ट सहिष्णु भिक्षु सर्व संगों से रहित होकर अपनी साधना के द्वारा आत्मा पर लगे हुए पूर्वबद्ध कर्म मल को दूर कर उसे परिशुद्ध बना लेता है।

वास्तव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये रत्नत्रय मिलकर मोक्ष मार्ग और कर्मबन्धनों से छुटकारा का एक मात्र साधन है।

नादंसणिस्स नाणं,

नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा ।

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,

नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र, २८/३०)

अर्थात् सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान पैदा नहीं हो सकता और ज्ञान के बिना मूल और उत्तर गुणों (चारित्र) की प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना चारित्र के मोक्ष प्राप्त नहीं होता और बिना मोक्ष के निर्वाण की परम शान्ति प्राप्त नहीं होती।

आत्मानमात्मना वेत्ति, मोहत्यागाद् य आत्मनि ।

तदेव तस्य चारित्रं, तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ॥२

आत्मा को आत्मा स्वयं जानता है ; ऐसा ज्ञान मूढ-व्यक्ति को नहीं होता, अतः कहा है कि मोह का त्याग करने से आत्मा अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा में जानता है, वही उसका चारित्र है, वही ज्ञान है और वही श्रद्धारूपी दर्शन है।

“अप्या सो परमप्या” अर्थात् जिस आत्मा की समस्त शक्तियाँ पूर्ण प्रकट हो जाती हैं वहीं परमात्मा है। परमात्मा आत्मा के भिन्न

नहीं है। यह सम्राट भरत चक्रवर्ती के चरित्र से स्पष्ट हो जाता है— एक दिन जब वस्त्र, आभूषण आदि पहन सुसज्जित होकर भरत चक्रवर्ती अपने शीश महल में पहुँचे। शीशमहल में जब उन्होंने शीशे के सामने खड़े होकर अपना चेहरा और अंग देखा तो सारे अंगों में पहने हुए रत्नजटित आभूषण का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा था। अचानक उनके हाथ की एक उंगली में से अंगूठी गिर पड़ी। उसके गिरने से निस्तेज चन्द्रकला-सी शोभारहित अंगुलि दिखायी देने लगी। उनके मन में मंथन जागा। जब एक अंगूठी के निकाल देने से अंगुलि की शोभा कम हो गई है तो और आभूषणों के उतार देने से पता नहीं क्या होगा? यों सोचकर उन्होंने अपना प्रतिबिम्ब देखा तो पत्तों से रहित वृक्ष के समान अपना शरीर शोभारहित जान पड़ा। भरत चिन्तन की गहराई में डूब गए, कि क्या इस शरीर की शोभा आभूषणों से है? अतः इस शरीर को गहनों से सजाने की अपेक्षा अपनी आत्मा को ही ज्ञानादि गुणरूपी और आभूषणों से क्यों न सजा लूं। वे आभूषण स्थायी होंगे, उनकी चमक कभी फीकी न होगी। विष्टा आदि मलों से भरे हुए इस बाह्यस्रोत वाले शरीर को सजाने से क्या लाभ? यह तो अन्दर से खोखली दीवार पर पलस्तर करके उसकी शोभा को बढ़ाने जैसा होगा। जैसे उत्पथ (ऊषर) भूमि में हुई वर्षा व्यर्थ ही जल को बिगाड़ती है वैसे ही कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों से श्रृंगारित यह शरीर भी सुन्दर पदार्थों को दूषित ही करता है। इसलिए परिणाम में दुःखद विषयसुखसाधनों की आसक्ति का त्याग करके मोक्षफल देने वाले तप-संयम का सेवन करने से ही यह शरीर सार्थक हो सकता है। इसी प्रकार इससे उत्तम फल प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार वैराग्यरस से सराबोर होकर भरत ने अनित्यभावना पर अनुप्रेक्षण किया है। इस प्रकार के शुक्लध्यान के योग से उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे
एगं जिणेज्य अप्पाणं एस से परमो पओ

(उत्तराध्ययन सूत्र, ९/३४)

एक ऐसा पुरुष जो दुर्जय संग्राम में १० लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करता है, दूसरा ऐसा पुरुष जो केवल अपनी आत्मा को जीतता है इन दोनों में आत्म विजेता ही परम विजेता है उसका दर्जा ऊँचा है।

विचार, इच्छा, लगन ये सब आत्मा के परिणाम पर निर्भर हैं। आत्मा का परिणाम ही अध्यवसाय है जिसकी जीवन निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका है। आत्मा शुभ अध्यवसायों से ऊपर उठता है और अशुभ अध्यवसायों से नीचे गिरता है अध्यवसायों का महत्व प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा से पुष्ट होता है :—

‘श्रेणिक राजा को जब यह समाचार मिला कि श्रमण भगवान महावीर का नगर के बाहर उद्यान में समवसरण लगा है तो वह प्रभु के दर्शन को जुलूस के साथ गये। जुलूस में दो सिपाही थे। उनमें एक का नाम दुर्मुख और दूसरे का नाम सुमुख था। उन्होंने उद्यान के एक ओर ध्यानावस्थित प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को देखा। सुमुख ने कहा— “देखो इन मुनिवर को, कैसी उग्र तपस्या कर रहे हैं इनको बारंबार नमस्कार है।” यह सुनकर दुर्मुख ने कहा—“मैं इन्हें पहचानता हूँ, ये पोदनपुर के राजा प्रसन्नचन्द्र हैं, जिन्होंने अपने दूध पीते बालक को मंत्रियों के संरक्षण में रख राज्य भार छोड़कर यह रास्ता अपना लिया। इनके पीछे इनके राज्य में मन्त्रियों की नियत बदल गयी और वे बालराज को मारकर राज्य हथियाने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। अतः ऐसे में यह पथ अपना किस काम का है ? ये बातें करते वे

दोनों वहाँ से आगे बढ़ गये। कुछ ही देर में श्रेणिक राजा वहाँ आये और ध्यानमग्न मुनि महाराज को वन्दन किया फिर वे भगवान् महावीर के पास पहुँचकर वन्दन कर उनकी देशना सुनने लगे। वहाँ अवसर पाकर उन्होंने प्रभु से पूछा “मैंने रास्ते में ध्यानमग्न प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की वंदना की। अगर वे उस स्थिति में कालधर्म पाते हैं तो किस गति में जायेंगे।” प्रभु ने कहा— “सातवें नरक में।” यह सुन राजा को आश्चर्य हुआ फिर उन्होंने प्रश्न किया “यदि अभी काल धर्म पाये तो किस गति में जाएंगे।” प्रभु ने कहा— “वे सर्वार्थ सिद्धि-विमान में देव बनेंगे।” यह सुनकर श्रेणिक को और भी आश्चर्य हुआ कि प्रभु ने क्षणभर पहले कहा सातवीं नरक में जायेगे और अब स्वार्थसिद्धि विमान कहते हैं उनके मन में मंथन चल ही रहा था कि जयनाद होने लगा, दुंदुभि बजने लगी यह सुन श्रेणिक ने प्रभु से पूछा “यह दुंदुभि क्यों बज रही है? और यह जयनाद क्यों हो रहा है? तब प्रभु ने कहा— “हे राजन! प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवलज्ञान हुआ है।” श्रेणिक ने अपने संशयों के निवारण के लिये प्रभु से कहा “हे प्रभु! ये अचरजभरी बातें मुझे समझ में नहीं आ रही है। कृपया इसका रहस्य समझाएँ।” तब भगवान् ने कहा— “राजन्! जब तुम यहाँ आ रहे थे, तब तुम्हारे जुलूस के आगे चलने वाले दो सिपाही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के विषय में जो बातें करते आ रहे थे उन्हें सुनकर प्रसन्नचन्द्र ऋषि विचलित हो गये और विचारने लगे कि आज तक मैंने जिन पर विश्वास किया वे ऐसे कृतघ्न निकले कि मेरे पुत्र को मार डालने का षड्यन्त्र रचने लगे। नहीं मैं ऐसा नहीं होने दूंगा और क्रोध में वे उनके साथ काल्पनिक युद्ध करने लगे। यहाँ तक कि उनके सब शस्त्र समाप्त हो गये और दुश्मन भी समाप्त हो गये केवल

एक बाकी रह गया। तब उन्हें विचार आया कि अपनी लोहे की टोपी से इसका भी नाश कर दूँ ठीक उसी समय हे श्रेणिक तुमने उन्हें प्रणाम किया इसलिये तुम्हारे पहले प्रश्न का उत्तर मैंने दिया कि वो सातवें नरक में जाएंगे। उसके बाद जैसे ही उन्होंने सर पर हाथ रखा, उन्हें लोच किया हुआ मस्तिष्क याद आया और उनका क्रोध उतर गया। वे विचारने लगे मैंने तो सदा के लिये सामायिक व्रत ले रखा है लेकिन यह क्या किया? मेरा ध्यान चूक गया पुत्र के प्रति राग कैसा और मन्त्रियों के प्रति द्वेष क्यों? मेरे इस कृत्य को धिक्कार है मैं उसका प्रायश्चित्त करता हूँ इन दुष्ट अध्यवसायों से आत्मा को बाहर निकाल देता हूँ। हे राजन! जब वे ऐसा सोच रहे थे तब तुमने दूसरा प्रश्न किया था तो मैंने कहा था कि वे स्वार्थ सिद्धि विमान में देव बनेंगे। बाद में उनके अध्यवसायों की शुद्धि चालू रही और उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हुए। वहाँ उन्होंने चार घाती कर्मों का नाश किया और उन्हें ‘केवल ज्ञान’ उत्पन्न हुआ। प्रभु से यह सुनकर श्रेणिक का समाधान हुआ। इस कथा से यह पता चलता है कि आत्मा शुभ अध्यवसायों से चढ़ता है और अशुभ अध्यवसायों से गिरता है। आत्मा का अध्यवसाय हमेशा एक सा नहीं रहता। आत्मा शुभ अध्यवसाय से अशुभ अध्यवसाय में और अशुभ से शुभ में आता है। अध्यवसायों के परिवर्तन में निमित्त कारण बनते हैं। जैसे आप किसी पर क्रोध कर रहे हो तो हठात् आपके सामने वीतराग भगवान् की मूर्ति आ जाती है तो हमारा अध्यवसाय तुरन्त बदल जाता है। आत्मा के परिणामों या अध्यवसायों की शुद्धि ही भाव धर्म है जो दान-शील-तप से भी उत्तम है।

आचारांग सूत्र में कहा गया है-

‘बंध पमोक्खो सुज्झ अज्झत्थेव’

अर्थात् बन्ध और मोक्ष तेरे अपने अध्यवसाय पर निर्भर हैं। अध्यवसायों की तारतम्यता को ही लेश्या कहते हैं। आत्मा पर कर्म बाँधते समय जैसा तीव्र, मंद रस बाँधा हो वैसा ही तीव्र-मंद फल भोगना पड़ता है। जैन शास्त्रों में इसको समझाने के लिये जम्बू वृक्ष और छः पुरुषों का उदाहरण दिया गया है। छः यात्री एक जम्बू वृक्ष के नीचे आये उनमें से पहले ने कहा यदि इस पेड़ को तोड़ कर गिरा दे तो सभी फल खाये जा सकते हैं। दूसरे ने कहा सारे पेड़ को गिराने की क्या जरूरत है। उसकी एक बड़ी डाली तोड़ने से ही चल जायेगा। तीसरे ने कहा—बड़ी डाली की जरूरत नहीं है एक छोटी डाली तोड़ने से ही काम चल जायेगा। चौथे ने कहा बड़ी या छोटी डाली तोड़ने की क्या जरूरत है उसमें से फल के गुच्छे ही तोड़ ले। पाँचवें ने कहा गुच्छे तोड़ने की बजाय जामुन ही क्यों न तोड़ ले। छठे ने कहा सिर्फ भूख मिटाना ही प्रयोजन है तो यहाँ ताजी जामुन गिरी पड़ी है उसे ही क्यों न बीनकर अपनी भूख मिटाएँ।

यहाँ पहले पुरुष के अध्यवसाय बड़े अशुभ और तीव्रतम थे। इस स्थिति को कृष्ण लेश्या कहते हैं। दूसरे पुरुष के अध्यवसाय उससे कम तीव्रतर थे उसे नील लेश्या समझनी चाहिये। तीसरे पुरुष के अध्यवसाय तीव्र थे अतः उसे कपोत लेश्या समझना चाहिये। इन तीनों लेश्याओं की गणना अशुभ लेश्याओं में की जाती है। चौथे पुरुष का अध्यवसाय मंद है जो पीत लेश्या या तेजोलेश्या है। पाँचवें पुरुष का अध्यवसाय पद्म लेश्या और छठे पुरुष का अध्यवसाय

शुक्ल लेश्या समझना चाहिये। तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्याओं की गणना शुद्ध लेश्याओं में की जाती हैं।

आत्मा द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल, लेश्या रूप से परिणत होते हैं। इस स्थिति में वह द्रव्य लेश्या के नाम से अभिहित होता है। जिनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होता है और आत्मा के अध्यवसाय भाव लेश्या कहलाते हैं।

आत्मा अनन्त शक्तिमान और वीर्यवान होती है। आत्मा वीर्य शक्ति से युक्त है। इस शक्ति द्वारा आत्मा कोई भी क्रिया या प्रवृत्ति करने में सक्षम होती है। खाना-पीना, सोना, उठना, चलना, विचारना, भोग विलास करना धर्म की आराधना करना आदि सभी क्रियाएं आत्मा की इसी शक्ति में निहित हैं। आत्मा में यदि यह शक्ति न हो तो वह निस्तेज होने लगती है। विषय वासना में संयम तथा धर्म आराधन द्वारा आत्मा का वीर्य निरन्तर स्फूर्तिमान बनाये रखना चाहिये। वीर्य के पतन से आत्मा का पतन होता है इसलिये भोग में संयम की बात कही गयी है।

तीर्थकरों का प्रमुख ध्येय मनुष्य जाति को दुःखों से मुक्त कराना था। उन्होंने इस तथ्य को गहराई से समझकर बताया कि समस्त दुःखों का मूल कारण भोगासक्ति में है। उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि समस्त भौतिक और मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति में है। चाहे स्वर्ण और रजत के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी प्राप्त हो जाएँ फिर भी वे मनुष्य की तृष्णा पूर्ण करने में असमर्थ हैं। जैन दर्शनानुसार सुख-दुःख अहंकृत हैं। वास्तविक आनन्द की उपलब्धि भौतिक पदार्थों से नहीं होकर आत्मा से होती

है। यह आत्मोपलब्धि ममत्व के त्याग से प्राप्त होती है। ममत्व के त्याग से ही समता का सर्जन होता है।

जिण वयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेति भावेण
अमला असंकलिद्धा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥२६

परम महिमान्वित जिन वचनों में अनुरक्त होकर जो जिन वचनानुसार भाव पूर्वक अनुष्ठान करते हैं। वे मिथ्यात्वादि, मल और क्लेशों से रहित होकर संसार की मृत्यु-उन्मुखी, क्लेशकारी सागर को पार कर जाते हैं।

अयमात्मैव चिद्रूपः शरीरी कर्मयोगतः ।

ध्यानाग्निदग्धकर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः ॥४

समस्त प्रमाणों से सिद्ध आत्मा वास्तव में चेतन-ज्ञानस्वरूप है; क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है। शरीरी तो वह कर्म के संयोग से बनता है; किन्तु अन्य विषयों में ऐसा नहीं बनता, इससे अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। जब यह आत्मा ही शुक्लध्यानरूपी अग्नि से समस्त कर्मरूपी ईंधन को भस्म कर शरीररहित हो जाता है, तब मुक्तस्वरूप सिद्धात्मा निरंजन निर्मल बन जाता है।

“उपयोगो लक्षणम्”- तत्त्वार्थसूत्र में भी जीव का लक्षण उपयोग बताया गया है। चेतना युक्त बोधगम्य शक्ति (जीव) जिसको आत्मा कहते हैं वह अनादि सिद्ध व स्वतन्त्र द्रव्य है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता पर स्व-संवेदन प्रत्यक्ष या अनुमान आदि से किया जा सकता है। संसार जड़ चेतन पदार्थों का मिश्रण है तथा इन पदार्थों का विवेक

पूर्ण निश्चय उपयोग द्वारा ही हो सकता है। उपयोग दो प्रकार का होता है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। बाह्य वस्तु की चेतना को ज्ञान व आत्म चेतना को दर्शन कहा जाता है। जीव में बाह्य और आन्तरिक दोनों चेतना विद्यमान रहती हैं। चेतना जीव द्रव्य का सारभूत गुण है जो प्रत्येक अवस्था में जीव में विद्यमान रहता है। जिसमें चेतना नहीं वह जड़ है। जीव और अजीव में समस्त लोक समाहित है। जैन दर्शन में नव तत्त्वों का तथा कही-कही पर (तत्त्वार्थ सूत्र) सात तत्त्वों प्रतिपादन किया गया है। जीव अजीव के अलावा अन्य तत्त्व हैं संवर, आश्रव, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, पुण्य और पाप।

षड्दर्शन समुच्चय (श्लोक ४७) में आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है-

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापाश्रव संवरो,

बंधो विनिर्जरा मोक्षो नवतत्त्वानि तन्मते ॥

(अ. २८ गाथा १४)

उत्तराध्ययन में इन्हें तथ्य कहा गया है। ठाणंगसूत्र (६६५ सूत्र) में इनकी संज्ञा सद्भाव दी गयी है।

अजीव— जीव के लक्षण जिसमें न हो, कोई कर्म न हो, कर्ता न हो जड़ स्वरूप हो उसका नाम अजीव है। ये अजीव तत्त्व पांच प्रकार के हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशस्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और काल। अस्ति का अर्थ है प्रदेश और काय का अर्थ है समूह।

परमाणु जब अवयवी वस्तु पदार्थ के साथ सम्बद्ध हो तब वह प्रदेश कहा जायेगा। प्रदेश का अर्थ पदार्थ का सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश। जो पदार्थ इस लोकाकाश में जड़ और चेतन पदार्थों की गति में सहायक हो उसे धर्मास्तिकाय कहा गया है। वर्तमान में वैज्ञानिक इथर नाम के पदार्थ को ‘धर्मास्तिकाय’ के रूप में मानते हैं।

जड़ चेतन पदार्थों के स्थितिशील होने में सहायक पदार्थ अधर्मास्तिकाय है। आकाश अर्थात् जो अवकाश दे, स्थान दे। इसके दो भाग हैं— जहाँ तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो पदार्थ हैं। वहाँ तक लोकाकाश है और जहाँ इन दोनों का अस्तित्व नहीं है उसको अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में न कोई जीव है न कोई परमाणु पुद्गल।

गइलक्खणो धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणो
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं।।

(उत्तराध्ययन सूत्र २८/९)

अर्थात् 'धर्मद्रव्य का लक्षण गति है, अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थिति है। इसी प्रकार सब पदार्थों को अवकाश देना आकाश का लक्षण है।'

यह सारा जगत परमाणु—पुद्गलों का कार्य है यह द्रव्य रूप से अनादि और अनन्त है। यह जो चर्म चक्षु से दृश्यमान है, सड़न-गलन जिसका स्वभाव होता है, जो परिवर्तनशील हो, रूप-रस, गन्ध, स्पर्श जिसमें हो उसे पुद्गलास्तिकाय कहते हैं।

काल अजीव अरूपीद्रव्य है। निश्चय से काल अखण्ड है।

इन पाँचों में सारे संसार के अजीव तत्त्वों का समावेश है।

फल की अपेक्षा से कर्म दो प्रकार के होते हैं। (१) शुभ फल देने वाले और (२) अशुभ फल देने वाले कर्म। शुभ फल देने वाले कर्म **पुण्य** कहलाते हैं और अशुभ फल देने वाले कर्म **पाप** कहलाते हैं।

आश्रव— कर्म का आत्मा की ओर आना या जिससे कर्म बन्ध हो उसे आश्रव कहते हैं।

संवर— आत्मा की ओर आते हुए कर्मों को रोकना संवर कहलाता है।

निर्जरा— कर्मों को गिरा देना, नाश कर देना निर्जरा है। आश्रव का काम है कर्मों को लाने का और निर्जरा का काम है लगे हुए कर्मों को दूर करना।

बंध— कर्मणा वर्गों एवं उनके पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बंध कहलाता है।

मोक्ष— कर्म के सर्व बन्धनों से आत्मा की मुक्ति मोक्ष है।

किस प्रकार इन तत्त्वों के प्रभाव से आत्मा में परिवर्तन आता है इसका उदाहरण चिलाती पुत्र के चरित्र से पता चलता है। चिलाती पुत्र का जन्म एक गरीब दासी के यहाँ मगध देश के राजगृही नगरी में हुआ था। उसकी माँ धनदत्त सेठ के यहाँ काम करती थी। धनदत्त सेठ के चार पुत्र और एक पुत्री सुषमा थी। सुषमा अत्यन्त रूपवती थी। चिलाती पुत्र सेठ के यहाँ बड़ा हुआ था। वह सुषमा को खिलाता और घुमाने ले जाता था और उसके साथ बातें करता, तभी उसे सन्तोष होता। सुषमा ही उसका जीवन बन गयी थी।

किसी कारणवश धन्य सार्थवाह ने नाराज होकर उसे नौकरी से निकाल दिया। इसलिए उसे वह घर छोड़ना पड़ा; पर उसके दिल में तो सुषमा ही समायी हुई थी।

उसके बाद चिलातीपुत्र ने एक दो जगह नौकरी की; लेकिन उसका मन नहीं लगा। आखिर वह जुआरियों की सोहबत में पड़ गया और जुआ खेलने लगा। जुए के साथ और भी दोष लग जाते हैं; जैसे

कि चोरी, मद्यपान, वेश्यागमन, आदि आदि! चिलातीपुत्र इन सब व्यसनों में पूर्ण हो गया।

एक बार वह चोरी करते पकड़ा गया। कोतवाल ने उसे राजा के सामने पेश किया। राजा ने उसे देशनिकाला की सजा दी, इसलिए उसे राजगृही छोड़कर जाना पड़ा। वह भागता हुआ एक चोरपल्ली में जा पहुँचा। वहाँ वह अपनी खूबियों के कारण पल्लीपति का कृपापात्र बन गया और पल्लीपति के मरने के बाद उसके पद पर आया। अब तो चोरी, डकैती, लूटपात और खून ही उसका व्यवसाय हो गया।

एक बार उसने तैयारी करके राजगृही में प्रवेश किया और धन्य सार्थवाह के घर पर डाका डाला। खूब माल हाथ लगा। चिलातीपुत्र सुषमा को भूला नहीं था। उसने उसे भी खोज निकाला और उसे हर ले गया।

धन्य सार्थवाह ने देखा कि पुष्कल धनमाल के साथ-साथ प्यारी पुत्री का भी हरण हो गया है; इसलिए वह अपने चार पुत्रों और राज्य के कुछ सिपाहियों के साथ उसका पीछा करने लगा। बीहड़ रास्ता तय करने के बाद अटवी के नजदीक पहुँचा।

चिलातीपुत्र ने सोचा— यह धन के लिये नहीं, सुषमा के कारण मेरा पीछा कर रहा है। अगर मैं इसके हाथों पड़ गया तो मेरा कल्याण नहीं। इसलिये उसने तलवार के एक ही वार से सुषमा का सर काट दिया और धड़ को वहीं छोड़कर सर लेकर भागने लगा। धन्य सार्थवाह पुत्री की निर्मम हत्या पर कल्पान्त करने लगा और आखिर वापस लौट आया।

चिलातीपुत्र उस घोर अटवी में आग बढ़ने लगा। पीछे का भय रहा नहीं था, थक गया था और भूख भी जोर से लगने लगी थी। इस लिए, वह खाने लायक फल-फूल की तलाश करने लगा। उसने देखा कि एक मुनिराज एक वृक्ष के नीचे खड़े हुए ध्यानमग्न हैं।

चिलातीपुत्र जानता था कि साधु-महात्मा धर्म कहते हैं और उससे मनुष्य को बड़ा लाभ होता है। इसलिए वह उस साधु के निकट जाकर कहने लगा— साधु जी! मुझे थोड़े में धर्म बताइये। अगर नहीं कहेंगे तो आपका हाल इस सुषमा जैसा होगा।

महापुरुष ऐसी धमकी से नहीं डरते। डरें तो घोर जंगलों में जाकर तप-ध्यान क्यों करें? हर प्रकार का भय जीतना उनका विशेष लक्ष्य होता है। उनका हृदय परोपकार-भावना से भरा होता है; इसलिए किसी को लाभ होता हो तो धर्म अवश्य सुनाते हैं। यह साधु बड़ी उच्चकोटि के थे। उन्हें चारणलब्धि प्राप्त थी; उन्हें उड़ने की शक्ति प्राप्त थी। उन्होंने चिलातीपुत्र से कहा— उपशम, विवेक, संवर। और वे आकाश में गमन कर गये।

चिलातीपुत्र ने इन शब्दों का मतलब कुछ न समझा। लेकिन, यह बात उसके मन में बस गयी थी कि, साधु चमत्कारिक शक्तिधारी थे और उनके कहे हुए शब्द अत्यन्त कल्याणकारी हैं। इसलिए, वह उन शब्दों के अर्थ पर विचार करने लगा।

ज्ञान बाहर से नहीं आता; अन्दर से प्रकट होता है। उसमें चिन्तन-मनन निमित्त भूत बनता है। इसलिए कुछ ही देर में उपशम का अर्थ उसकी समझ में आने लगा कि उपशम माने शांत होना;

क्रोध छोड़ देना! यह जानकर उसने क्रोध की प्रतीकरूप अपनी तलवार छोड़ दी।

इसी प्रकार विवेक का अर्थ प्रकट हुआ कि तन, धन और स्वजन का मोह त्याज्य समझने का नाम विवेक है। यह जानकर उसने मोह प्रतीक सुषमा का सर दूर फेंक दिया।

तीसरे पद संवर का भी अर्थ जाना कि इन्द्रियों तथा मन की प्रवृत्तियों को रोकना संवर है। यह जानकर वह तन और मन को स्थिर करके उसी जगह शांत होकर खड़ा रहा।

संवर आया कि साधुता आयी। चिलातीपुत्र भाव से साधु बना। यह घटना साधारण चमत्कारी नहीं है! लोग जिन्दगी भर साधु-सन्तों के व्याख्यान सुनते रहते हैं; अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ते हैं; फिर भी इन्द्रियों और मन को वश में नहीं रख पाते। चिलातीपुत्र का तो सारा जीवन अधमता में बीता था। उसने न कभी सत्संग किया था न धर्मोपदेश सुना था। परन्तु, पुण्योदय से भरे जंगल में साधु के दर्शन हुए, उपदेश सुना, श्रद्धा लाया, ज्ञान पाया और जानी हुई बात पर फौरन् अमल शुरु कर दिया।

चिलातीपुत्र भाव-साधु की कोटि में पहुँच गये और ध्यानमग्न हो गये। लेकिन, उनकी देह अभी तक ताजे लोहू से सनी हुई थी; इस लिए उसकी गंध से खिंचकर बहुत-सी वनकीड़ियाँ आकर चिलातीपुत्र के शरीर पर चढ़कर चटकियाँ ले लेकर लोहू का आस्वादन करने लगीं। इतनी कीड़ियों के काटने का कष्ट सामान्य नहीं था; पर चिलातीपुत्र उपशम का रहस्य समझ गये थे; इसलिए उन्होंने कीड़ियों पर क्रोध नहीं किया; विवेक का रहस्य समझ गये थे; इसलिए उन्होंने

शरीर पर ममता नहीं दिखायी; और संवर का रहस्य समझ गये थे, इसलिए दुःख का कोई प्रतिकार नहीं किया।

कीड़ियों का उपद्रव घड़ी-दो-घड़ी नहीं; प्रहर-दो-प्रहर नहीं, पूरे ढाई दिन तक जारी रहा। फिर भी चिलातीपुत्र ने अपने मन को जरा भी डिगने न दिया। जब उन्होंने देहत्याग किया, तब उनके चित्त में समता थी; शांति थी, इसलिए वे स्वर्ग पहुँचे और देवोपम सुखभोग करने लगे।

आत्मा अनादि काल से कर्म बन्धन में है। कर्मबन्धन के चार कारण होते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। कर्म आठ प्रकार के होते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानावरणीय कर्म— जो कर्म ज्ञान पर आवरण डाले अर्थात् ज्ञान के प्रकाश को कम करें ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते हैं। ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान व केवलज्ञान।

दर्शनावरणीय कर्म— जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डाले वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ ९ हैं। (१) चक्षुदर्शनावरणीय (२) अचक्षुदर्शनावरणीय (३) अवधि दर्शनावरणीय (४) केवल दर्शनावरणीय (५) निद्रा (६) निद्रा-निद्रा (७) प्रचला (८) प्रचला-प्रचला (९) स्त्यानर्द्धि।

वेदनीय कर्म— जो कर्म आत्मा को सुख दुःख का वेदन कराये, अनुभव कराये वह वेदनीय कर्म कहलाता है। इस कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं। (१) शातावेदनीय (२) अशातावेदनीय

मोहनीय कर्म— जिस कर्म के कारण जीव मोहग्रस्त होकर संसार में फँसता है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके दो विभाग हैं। (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय।

आयुष्य कर्म— जिस कर्म के कारण आत्मा को एक शरीर में एक निश्चित समय (आयु) तक रहना पड़े उसे आयुष्य कर्म कहते हैं। इसकी उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं। (१) देवता का आयुष्य (२) मनुष्य का आयुष्य (३) तिर्यच का आयुष्य और (४) नरक का आयुष्य।

नामकर्म— जिस कर्म के कारण आत्मा शुभ-अशुभ शरीरादि धारण करता है उसे नाम कर्म कहते हैं। नामकर्म की मूल उत्तर प्रकृतियाँ ४२ हैं।

गोत्रकर्म— जिसके द्वारा जीव को उच्चता-नीचता प्राप्त होती है वह गोत्र कर्म कहलाता है। इसके दो प्रकार हैं। (१) उच्चगोत्र (२) नीच गोत्र

अन्तरायकर्म— जिस कर्म के कारण आत्मा की शक्ति में अन्तराय या विघ्न आये वह अन्तराय कर्म कहलाता है। इसकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं—

दानांतराय, लाभांतराय, भोगान्तराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय

जैन दर्शन में जीव को ही आत्मा माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय के १०वें श्लोक में आत्मा के दो भेद बताये गये हैं संसारी और मुक्त। जो आत्मा सम्पूर्ण कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त करती है वही मुक्त आत्माएँ कहलाती हैं। और जो जीव संसार में भ्रमण कर रहे है वो संसारी कहलाते हैं। सांसारिक जीव मनवाले और मन रहित

दो प्रकार के हैं। इनके भी दो भेद हैं- त्रस और स्थावर। एकेन्द्रिय जीव-पृथ्वीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय आदि जीव स्थावर माने जाते हैं। अन्य द्विन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीव त्रस जीवों की श्रेणी में आते हैं। सांसारिक आत्मा चार प्रकार की योनियों में जन्म लेती हैं। देव, मनुष्य, तिर्यच और नारकीय। आत्मा अपने शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेता है। शुभ कर्म करता है तो देव और मनुष्य योनियों में और अशुभ कर्म करता है तो तिर्यच या नारकीय योनि में जन्म लेता है। जैन दर्शन में जीवों को चेतना की मात्रानुसार वर्गीकरण किया गया है। एकेन्द्रिय द्विन्द्रिय तेइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय। एकेन्द्रिय जीव-पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय और वनस्पतिकाय ये पाँचों स्थावर कहलाते हैं। इनमें केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। जिनके त्वचा और जीभ दो इन्द्रिय होती है वे द्विन्द्रिय जीव कहलाते हैं। कीड़े, लट, आदि जीव इसी श्रेणी में आते हैं।

जूँ, चींटी आदि जीवों में स्पर्श, रसना और सूँघने की शक्ति होने से ये तेइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जिनके त्वचा, जीभ, नासिका और नेत्र होते हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। मक्खी, भंवरे, बिच्छू आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। जिनके त्वचा, जीभ, नासिक, नेत्र और कान होते हैं वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के चार भेद हैं। मनुष्य, तिर्यच, देव, नारकी। इस प्रकार कृमि, जूँ, भंवरे और मनुष्य में क्रमशः एक-एक इन्द्रियों की चेतना की वृद्धि होती है। तीर्थंकरों में इन्द्रिय चेतना के अलावा मति, श्रुति, अवधि, मनपर्याय और केवलज्ञान रहता है। अतः वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। इस प्रकार चेतना की मात्रा के अनुसार जीव ऋंखला बद्ध है।

आधुनिक जीव वैज्ञानिक समानताओं के सिद्धान्त को हजारों वर्षों पहले उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के श्लोक 'परस्परपग्रहो जीवानाम' में स्पष्ट किया था। प्रत्येक सांसारिक जीव द्रव्य का कार्य एक दूसरे की सहायता करना है। कोई भी जीव अकेला नहीं रह सकता। प्रत्येक जीव एक दूसरे पर आश्रित है व जैविक विकासक्रम में एक दूसरे का सहयोग आवश्यक है।

आत्मा स्वदेह परिणाम वाली है और उसके असंख्यात प्रदेश हैं। एक परमाणु जितने आकाश को घेरता है उसे एक प्रदेश कहते हैं। इन्हीं असंख्यात प्रदेशों से युक्त आत्मा अखण्ड द्रव्य है। आत्मा अणु भी है विभु भी। सूक्ष्म इतनी है कि एक आकाश प्रदेश के अनन्तवें भाग में समा सकती है। और विभु इतनी कि समग्रलोक में व्याप्त है। संकोच और विस्तार के गुण के कारण एक हाथी में रहने वाली आत्मा जब चींटी के शरीर में प्रवेश करती है तब संकुचित हो जाती है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे कमरे में भी व्याप्त रहता है और बड़े कमरे में भी। ठीक इसी प्रकार आत्मा शरीर के परिणाम के साथ घटती है। ज्यों-ज्यों शरीर की वृद्धि होती है आत्मा का परिणाम भी बढ़ता है।

दण्वतो खित्ततो चेव काल तो भाव तो तहा

णिच्चाणिच्चंतु विण्णेयं संसारे सव्व देहिणं

संसार की समस्त देहधारी आत्माओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य और अनित्य जानना चाहिये।

विश्व के समस्त पदार्थ सार्थ द्रव्य रूप में नित्य है और पर्याय परिवर्तन की अपेक्षा नित्य भी है। उमास्वाति ने कहा है— 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं हि सत्'।

(तत्त्वार्थ अ. ५ सू २८)

हर पदार्थ, प्रतिक्षण उत्पत्ति और विलय में परिवर्तित हो रहा है। जैन दर्शन में तत्त्व वस्तु या पदार्थ में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की धारा चलती रहती है। स्वजाति का परित्याग किये बिना भवान्तर का ग्रहण करना उत्पाद है। उदाहरण के लिये मिट्टी का पिण्ड घर पर्याय में परिणत होता हुआ भी मिट्टी ही रहता है। मिट्टी रूप जाति का परित्याग किये बिना घर रूप पर्यायान्तर उत्पाद कहलाता है। इसी प्रकार स्वजाति का परित्याग किये बिना पूर्व भाव का जो विनाश है उसको व्यय कहते हैं। घट के निर्माण में मिट्टी के पिण्ड का विनाश होता है अर्थात् पिण्ड की आकृति केवल बदल जाती है मूल उपादानगत तल के रूप में मिट्टी तो वही रहती है। अनादि पारिणामिक स्वभाव के कारण वस्तु का ध्रौव्य है। अर्थात् चेतन-अचेतन द्रव्य अपनी जाति को नहीं छोड़ते फिर भी उनमें जो परिवर्तन होता है या जो नवीन रूप की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद तथा पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय तथा उसके असली अनादि स्वभाव रूप अन्वय को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे दूध दही में परिणत होता है, दही का मट्टा बनता है फिर भी दूध रूप में उसकी ध्रौव्यता बनी रहती है अतः प्रत्येक पदार्थ या तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा-

उप्पज्जंति वियंति भाव णियमेण पज्जवणयस्स।

दव्व दिट्ठयस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठ।।

(सन्मति तर्क अ. १ गा. १०)

पर्याय नय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी परन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि से पदार्थ अनुत्पन्न और अविनाशी है।

पर्याय नय की दृष्टि से विश्व की कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। एक सूक्ष्म अणु भी अपने पर्यायों में प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है और विराट सुमेरु भी।

आत्मा दुःख से बचना चाहता है पर दुःख के कारणों से नहीं बच पाता।

जस्स भीता पलायंति जीवा कम्माणुगामिणो।
तमेवादाय गच्छंति किच्चा दिग्गा व वाहिणी॥

कर्मानुगामी आत्मा जिससे भीत होकर पलायन करता है किन्तु अज्ञानवश पुनः उसी दुख को ग्रहण करता है जैसे युद्ध से भागती सेना पुनः शत्रु के घेरे में फंस जाती है।

आत्मा स्वकृत कर्मों से बद्ध होकर गमन करता है और अपने ही कर्मों द्वारा पुनः इस संसार में आता है। शुभ और अशुभ कर्म ही जन्म और मृत्यु के बीज है।

भगवती सूत्र में गांगेय अणगार प्रभु से प्रश्न करते हैं 'प्रभु, नारक जीव नरक में स्वयं उत्पन्न होते हैं या वहाँ उन्हें दूसरा उत्पन्न करता है?' प्रभु ने उत्तर देते हुए कहा 'गांगेय नारक स्वयं ही नरक में उत्पन्न होते हैं दूसरा उन्हें वहाँ कोई उत्पन्न नहीं कर सकता।'

गांगेय ने पुनः प्रश्न किया— 'प्रभो आप किस अपेक्षा से ऐसा फरमा रहे है?' प्रभु ने उत्तर दिया— 'कर्म के उदय से, कर्म के भारी होने के कारण, अशुभ कर्म के विपाकोदय और फलोदय से आत्मा नरक में उत्पन्न होता है अतः नरक स्वयं नरक में उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है।' आत्मा के परिभ्रमण का मूल कारण कर्म है।

'कर्म पहले है कि आत्मा' इसका उत्तर इस गाथा में मिलता है।

बीया अंकुर णिप्फत्ती अंकुरातो पुणेवीयं।
बीये संबुज्जज्जमाणम्मि अंकुरस्सेव संपदा॥४
बीय भूताणि कम्माणि संसारम्भि अणादिए।
मोहमोहित चित्तस्स ततो कम्माण संतति

अर्थात् बीज से अंकुर फूटता है और अंकुरों में से बीज निकलते हैं। बीजों के संयोग से अंकुरों की सम्पत्ति बढ़ती है। अनादि संसार में कर्म बीजरूप है। कषायों के द्वारा कर्म संतति बढ़ती जाती है। बीज में एक विराट वृक्ष समाया रहता है जो अनुकूल वातावरण में एक विशाल वृक्ष बन जाता है जो अपने में हजारों बीज समाये हुए हैं। इसी प्रकार अज्ञानी आत्मा उदयगत कर्मों को क्षय करने के साथ-साथ राग द्वेष द्वारा अनन्त-अनन्त कर्मों को भी उसी क्षण बाँध लेता है। इस प्रकार आत्मा और कर्म अलग-अलग स्वभावी होने पर भी अनन्त काल के सहयात्री है। अतः आत्मा दुःख को नष्ट करने के लिये दुःख के मूल को समूल नष्ट कर दे अर्थात् आत्मा कर्मों को प्रतिक्षण नष्ट कर रहा है पर उसकी जड़ रागद्वेष को ही समाप्त कर आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है। जन्म और मृत्यु में जिसे वास्तव में बन्धन की अनुभूति होती है वही बंधन को तोड़ सकता है। आत्मा मृत्यु से आगत है, जन्म से प्यार करता है परन्तु स्थितिप्रज्ञ आत्मा को न जन्म के प्रति मोह होता है न मौत से डर। वह आत्मविकास की दिशा में इन्हें बन्धन मानता है।

सीलक्खरहमारुद्धो णाण-दसण सारही।
अप्पणा चेवभप्पाणं, जदित्ता सुभमहेती॥

शील जिसका रथ हो ज्ञान दर्शन जिसके सारथी हों ऐसे रथ पर आरूढ़ होकर आत्मा अपने द्वारा अपने आपको जीतता है और शुभ स्थिति को प्राप्त करता है।

आत्मा के विषय में जैन दर्शन में बहुत ही विशद सूक्ष्म स्पष्ट विवेचन मिलता है। ज्ञान, दर्शन, सुख, बल आदि अनन्त गुणों से पूर्ण, अखण्ड, अमर स्वरूप आत्मा, अनादि, अनन्त तथा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है। बहिरात्मा रूप में सांसारिक विषयों में लिप्त, आत्मश्रद्धा से शून्य, अन्तरात्मा रूप में आत्म-श्रद्धा से युक्त तथा परमात्मा रूप में संसार जाल से पूर्ण मुक्त, पूर्ण ज्ञाता, अजर-अमर तथा निर्विकार रूप में आत्मा परम लक्ष्य को प्राप्त करता है।

आत्मधिया समुपात्तः कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा।

कायादेः समाधिष्ठायको, भवत्यन्तरात्मा तु ॥७

चिद्रूपानन्दमयो, निःशेषोपाधिर्वर्जितः शुद्धः।

अत्यक्षोऽनन्तगुणः, परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः ॥८

शरीर, धन, परिवार, स्त्री-पुत्रादि को आत्मबुद्धि (ममता की दृष्टि) से ग्रहण करने वाला बहिरात्मा कहलाता है। परन्तु, शरीर तो मेरे रहने का स्थान (घर) है, मैं उसमें रहने वाला स्वामी हूँ। यह शरीर तो रहने के लिए किराए का घर है। इस प्रकार पुद्गल स्वरूप सुख-दुःख के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक नहीं करने वाला अन्तरात्मा कहलाता है। सत्ता से चिदानन्दमय (केवलज्ञानस्वरूप आन्दमय) समग्र बाह्य उपाधि से रहित, स्फटिक के सदृश निर्मल, इन्द्रिय आदि से अगोचर और अनन्तगुणों से युक्त आत्मा को ज्ञानियों ने परमात्मा कहा है।

जब नये कर्मों का आना रुक जाता है और पुराने कर्म क्षय हो जाते हैं तब आत्मा को नया शरीर धारण नहीं करना पड़ता। उस समय वह उर्ध्वगति से लोक के अग्रभाग सिद्धशिला में विराजकर मोक्ष के अक्षय अनन्त सुख का उपभोक्ता बन जाता है।

अयमात्मैव संसारः, कषायेन्द्रियनिर्जितः।

तमेव तद्विजेतारं, मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥५

कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत यह आत्मा ही नरक-तिर्यच-मनुष्य-देवगति-परिभ्रमणरूप संसार है और जब यही आत्मा कषायों और इन्द्रियों को जीत लेता है, तो उसी को बुद्धिशाली पुरुषों ने मोक्ष कहा है।

शरीर रहित आत्मा आकाश के किस भाग में रहता है। तत्त्वार्थ सूत्र के अन्तिम अध्याय में आचार्य उमास्वाति ने कहा है 'तदन्तर मूर्ध्व गच्छत्या लोकान्तात्' अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद आत्मा सीधी उर्ध्वगति करता है और लोक के अग्र भाग में आकर ठहर जाता है। जैसे कि तुम्बी अगर वजनदार वस्तुओं से भारी नहीं कर दी गयी हो तो सीधी पानी की उपरी सतह पर आ जाती है ठीक उसी प्रकार कर्म बन्धन के दूर होते ही जीव भी उर्ध्वगामी बन लोक के अग्रभाग में स्थिर हो जाता है। यही आत्मा की उच्चतम अवस्था है।

मृत्यु मात्र शरीर परिवर्तन की एक क्रिया है। जन्म कुछ समय के लिये ठहराव का एक जीवन देता है। जीवन की अन्तिम उपलब्धि आत्मा की कमी मृत्यु नहीं होती।

जया कम्मं खविताणं सिद्धिं गच्छई नीरओ

तथा लोगमत्थयन्थो सिद्धो हवई सासओ

दशवैकालिक सूत्र अ. ४ गाथा १९

अर्थात् कर्मों से मुक्त होने पर आत्मा ऐसी अवस्था में पहुँचती है जहाँ जन्म नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, मोह माया नहीं।

माणुसत्तम्मि आयाओ जो धम्मं सोच्च सद्वहे।
तवस्सी वीरियं लद्धं, संवुडे णिद्धुणे रयं ॥
सोही उज्जुयभृयस्स, धम्मोसुद्धस्स चिट्टइ।
णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तिव्व पावए ॥

(योगशास्त्र)

जो आत्मा मनुष्य जन्म पाकर धर्म को सुनता है, श्रद्धा करता और संयम में उद्यमी होता है वह संवृत्त तपस्वी कर्मों का नाश करता है। ऐसे सरल भाव वाले आत्मा की ही शुद्धि होती है। शुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है। घृत से सींची हुई अग्नि की तरह देदीप्यमान होता हुआ वह निर्वाण प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में केशी मुनि गौतम स्वामी से प्रश्न करते हैं—
सारीरमाणसे दुक्खे, वज्झमाणाण पाणिणं।
खेमं सिवमणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी ॥८०

हे मुने! सांसारिक प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं इसके लिये निर्भय, निरुपद्रव और शान्तिदायक स्थान कौन सा है?

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगगम्मि दुरारुहं।

जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वेयणा वाहिणो तहा ॥८१

लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है, जहाँ जरा मृत्यु, रोग और दुःख नहीं है, किन्तु वहाँ तक पहुँचना कठिन है।

ठाणे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।

केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥८२

वह स्थान कौन सा है?

निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगगमेव य।

खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥८३

उस स्थान का नाम निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है। इसे महर्षि प्राप्त करते हैं।

तं ठाणं सासयं वासं, लोयगम्मि दुरारुहं।

जं संपत्ता न सोयंति, भवोहंतकरा मुणी ॥८४

मुने! वह स्थान शाश्वत निवास रूप है, वह लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, किन्तु उसे प्राप्त करना महा कठिन है। जिसने भवका अन्त करके इस स्थान को प्राप्त कर लिया वे फिर सोच फिर नहीं करते।

सादिकमनन्तमनुपमम्, अव्याबाधं स्वभावजं सौख्यम्।

प्राप्य सकेवलज्ञानदर्शनो मोदते मुक्तः ॥६१

केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त सिद्धात्मा सर्वकर्मों से मुक्त होकर सादि-अनंत अनुपम, अव्याबाध और स्वाभाविक पैदा होने वाले आत्मिक सुख को प्राप्त कर उसी में मग्न रहते हैं।

सल्लेखना या समाधिमरण

आत्मा अमर है जिसकी कभी मृत्यु नहीं होती लेकिन वह जो देह धारण करता है उसकी नश्वरता निश्चित है देह की मृत्यु कोई नहीं रोक सकता बड़े से बड़ा इलाज दवाई मन्त्र सिद्धि भी देह की मृत्यु को जीत नहीं सकता। जब हम यह जानते हैं कि मृत्यु अवश्यम्भावी है तो मृत्यु को प्रसन्नता पूर्वक वरण करना चाहिये। जब सब परिस्थितियों में मृत्यु अनिवार्य है तो उससे घबराना नहीं चाहिये बल्कि यह सोचना चाहिये कि मैं ऐसे क्यों ना मरू जिससे मेरा कल्याण हो जाय। यही सोच अन्तिमसमय व्यक्ति में सल्लेखना या समाधिमरण धारण करवाता है।

सल्लेखना का अर्थ है (सत + लेखन) अच्छी तरह से काया और कषायों को कृश करना। दूसरी भाषा में इसे समाधि मरण भी कहते हैं। मृत्यु का समय आने पर सभी प्रकार के कषायों का त्याग कर समता पूर्वक देह का त्याग करना ही सल्लेखना है। इस प्रकार सल्लेखना का मूल आधार समता की प्राप्ति है। जहाँ आत्महत्या या आत्मघात जीवन के प्रति निराशा, मानसिक असन्तुलन की स्थिति होती है वही सल्लेखना में परमउत्साह व समभाव की स्थिति होती है।

आचारांग सूत्र में संलेखना या समाधिमरण के विषय में लिखा है—

आणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज।

वसुमंतो मइमंतो, सव्वं णच्चा अणेलिसं ।।१

शास्त्रकारों ने जिस क्रम से जिस क्रिया का विधान किया है उसी प्रकार आचरण करता हुआ संयमी मुनि अन्तिम समय में भक्तपरिज्ञा, इंगितमरण और पादपोपगमन मरण इन त्रिविध मरण में से यथावसर किसी एक मरण द्वारा समाधिपूर्वक इस नश्वर तन का त्याग करे।

दुविहं वि विइत्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा।

अणुपुव्वीए संखाए, आरंभाओ तिउट्टइ।।२

बुद्धिमान् संयमी पुरुष यथाक्रम से संयम की क्रियाओं का पालन करके अन्तिम समय में भक्तपरिज्ञा, इंगितमरण और पादपोपगमन इन तीन मरणों में से मैं किस मरण के योग्य हूँ, यह निश्चय करके उसी मरण द्वारा समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर आरम्भ से निवृत्त हो जाते हैं और अनुक्रम से कर्मों से छूट जाते हैं।

कषाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।

अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अंतियं।।३

भक्तपरिज्ञा आदि त्रिविध मरण में से किसी एक मरण को प्राप्त करने के लिए उद्यत हुआ साधु पहले कषायों की संलेखना करे अर्थात् कषायों को पतला करे। कषायों को पतला करता हुआ साधु आहार की मात्रा को भी घटाता जाय और बहुत थोड़ा भोजन करे। ऐसा करते हुए यदि क्षुधापरिषह अधिक सतावे तो भी साधु आहार की इच्छा न करे अर्थात् वह यह न सोचे कि मैं थोड़े दिन और आहार कर लूँ फिर संलेखना करूँगा।

जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णो वि पत्थाए।

दुहओ वि ण सज्जिज्जा, जीविए मरणे तथा।।४

संलेखना करने में प्रवृत्त साधु अपनी प्रशंसा होती देखकर अधिक जीवन की इच्छा न करे और क्षुधा की पीड़ा से तथा रोगादि से घबरा कर शीघ्र मरण की इच्छा न करे किन्तु वह जीवन और मरण किसी में भी आसक्त न होता हुआ समभाव रखे।

संलेखना देहोत्सर्ग की सबसे अच्छी युक्तिपूर्ण पद्धति हैं। विनोवा भावे ने भी इसी सल्लेखना को अपना कर देहोत्सर्ग किया था। सल्लेखना में एक साथ सब प्रकार का त्याग नहीं कर धीरे-धीरे क्रमानुसार करना चाहिये।

आज भी जैन साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं में समाधि मरण का प्रचलन देखने में आता है। जैन दर्शन में सिर्फ मनुष्यों में नहीं वरन् पशुओं में भी समाधिमरण के अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं। मेघकुमार मुनि का पूर्व भव में हाथी के रूप में समाधि मरण उल्लेखनीय है।

अभी हाल ही में गिरनार वन में शेरों के समाधि मरण की घटना का उल्लेख 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में प्रकाशित हुआ था जो जानवरों के समाधि मरण का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसका वर्णन यहाँ पर दे रहे हैं—

Death of a lion may not be unnatural in Gir. But, when a pair of males died recently, it left forest officials and environmentalists foxed. They showed no signs of pain, no death pangs though they had stopped eating and drinking water. Forest officials say. "death seems to have come in tranquility, like two sadhus leaving their bodies while in meditation".

"It is mysterious. They died in a sitting posture, a phenomena I have not observed in my 30 years of service. When our staff found their bodies they appeared like meditating sadhus. Normally, animals slump on their belly when they die and there is evidence of a struggle. Here, they seemed to have died in peace," says deputy conservator of forest (Sasan)-- BP Rawal.